

## खण्ड 3

शब्द, उपमान तथा अन्य प्रमाण

---

## तृतीय खण्ड का परिचय

---

एम. ए. हिन्दू अध्ययन के तृतीय पाठ्यक्रम के शब्द, उपमान तथा अन्य प्रमाण नामक तृतीय खण्ड में आपका स्वागत है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान, इन दोनों प्रमुख प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् भारतीय ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत पाए जाने वाले अन्य प्रमाणों का अध्ययन आप करेंगे। इस खण्ड में कुल 4 इकाईयाँ हैं। प्रथम इकाई में शब्द प्रमाण को परिभाषित करते हुए उसके स्वरूप का निरूपण किया गया है। साथ ही शब्द प्रमाण के साधनों एवं सीमाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। शब्द अपने अर्थों को द्योतित करते हैं। इन अर्थों की प्रतिपत्ति के सन्दर्भ में भारतीय परम्परा में शब्द की शक्तियों को कल्पित किया गया है। इस विषय का विवरण द्वितीय इकाई में प्रस्तुत है। तृतीय इकाई में उपमान प्रमाण की परिभाषा एवम् उसके स्वरूप को निरूपित किया गया है। इसके पश्चात् अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि नामक प्रमाणों को परिभाषित करते हुए इनके स्वरूप का वर्णन अन्तिम इकाई में प्रस्तुत है। इस खण्ड का अध्ययन करने के बाद आप शब्द, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाणों को समझने में सक्षम हो जाएँगे।



ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY

---

# इकाई 1 शब्द प्रमाण: परिभाषा एवं स्वरूप, साधन एवं सीमाएँ

---

## इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 जैन दर्शन में शब्द प्रमाण
  - 1.2.1 श्रुत ज्ञान (शब्द प्रमाण) का स्वरूप
  - 1.2.2 श्रुतज्ञान का प्रामाण्य
  - 1.3.3 श्रुतज्ञान के भेद
- 1.3 सांख्य दर्शन में शब्द प्रमाण
- 1.4 योग दर्शन में शब्द प्रमाण
- 1.5 न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण
  - 1.5.1 शब्द प्रमाण का स्वरूप
  - 1.5.2 वाक्यार्थज्ञान
  - 1.5.3 वाक्यार्थज्ञान का स्वरूप
- 1.6 मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण
  - 1.6.1 पूर्वमीमांसा में शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं भेद
  - 1.6.2 अन्विताभिधान- वाद
  - 1.6.3 अभिहितान्वयवाद
- 1.7 वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण
  - 1.7.1 वेदान्तदर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं भेद
  - 1.7.2 शाब्दबोध के चार सहकारी कारण
  - 1.7.3 अद्वैतवेदान्त में वेद का प्रामाण्य
- 1.8 शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता
- 1.9 सारांश
- 1.10 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 1.12 बोधप्रश्न

---

## 1.0 उद्देश्य

---

प्रिय विद्यार्थी ! आप एम0 ए0 हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के तृतीय खण्ड (शब्द, उपमान एवं अन्य प्रमाण) के इकाई सं0 01 “शब्द प्रमाण” का अध्ययन करने जा रहे हैं। जिसके अध्ययन से आप –

- जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के अन्तर्गत आगम प्रमाण के स्वरूप।
- सांख्य एवं योग दर्शन में शब्द प्रमाण आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है।
- न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण एवं वाक्यार्थ ज्ञान का स्वरूप।
- मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के अन्तर्गत अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का ज्ञान।
- वेदान्त दर्शन में शब्द प्रमाण वाक्यार्थज्ञान के सहकारीकारण – आकांक्षा योग्यता सन्निधि एवं तात्पर्य का ज्ञान।
- शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में न्याय एवं मीमांसा में पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्तपक्ष का ज्ञान।

## 1.1 प्रस्तावना

दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् – इस व्युत्पत्ति से दर्शन साधन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दर्शन वह शास्त्ररूप साधन है जिससे तत्त्व जाना जाता है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार तत्त्व का समग्र ज्ञान यदि करना है तो पहले प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति (प्रमा) को जानना आवश्यक है। “प्रमाता-प्रमाणं प्रमेयंप्रमितिरिति चतसृषु विधासु तत्त्वं परिसमाप्यते” (न्यायभाष्य)<sup>1</sup>

प्रमा का 'अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्'<sup>2</sup> यह लक्षण किया गया है। अनधिगत— ऐसा विषय जो पूर्व में ज्ञात न हुआ हो। 'अबाधित'—ऐसा विषय जो दूसरे प्रमाण से (उत्तर ज्ञान से) मिथ्या सिद्ध न होने वाला हो अर्थात् बाधित न होने वाला हो। ऐसा विषय जिस ज्ञान है वह 'प्रमा' कहा जाता है। अर्थात् पूर्व में अज्ञात एवं अबाधित ज्ञान प्रमा कहलाता है। प्रमा (यथार्थज्ञान) का जो करण (साधन) है वह प्रमाण है। प्रमा (यथार्थज्ञान) के करण को प्रमाण कहते हैं। करण कहते हैं- व्यापारवत् साधकतम को। व्यापारवत् से आशय क्रिया से युक्त हो तथा साधनों में सबसे प्रमुख साधन हो उसे करण कहते हैं। जैसे लकड़ी को काटने में कुल्हाड़ी क्रिया से युक्त है तथा अन्य साधनों (हाथ इत्यादि) की अपेक्षा प्रमुख साधन है। उसी प्रकार प्रमा की प्राप्ति में जो क्रिया से युक्त हो एवं अन्य साधनों (हाथ इत्यादि) की अपेक्षा प्रमुख साधन भी हो वह प्रमाण है। मीमांसक पार्थसारथि मिश्र के अनुसार प्रमाण --

कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्<sup>3</sup> अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो एवं दोष रहित हो, वही 'प्रमाण' है। भारतीय दर्शन में प्रत्येक सम्प्रदाय में प्रमाणों की संख्या भिन्न भिन्न स्वीकार की गयी है -

चार्वाक - केवल 'प्रत्यक्ष' (एकमात्र प्रमाण) –प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया अनुमानादेः अनडीकारेण प्रामाण्याभावात्<sup>4</sup>

<sup>1</sup> झा, महेश, न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 2013 पृ० 116

<sup>2</sup> मुसलगाँवकर, गजानन, वेदान्तपरिभाषा-प्रत्यक्ष परिच्छेद(धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ० 13

<sup>3</sup> झा, धर्मदत्त, शास्त्रदीपिका (पार्थसारथि मिश्र कृत) 1.1.5, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2003, पृ 178.

<sup>4</sup> शर्मा, उमाशंकर, सर्वदर्शनसंग्रह (माधवाचार्य कृत) -चार्वाक मत, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 पृ० 5

वैशेषिक<sup>5</sup> और बौद्ध<sup>6</sup> मत 'प्रत्यक्ष और अनुमान' (दो प्रमाण)

सांख्य<sup>7</sup> एवं योग<sup>8</sup> मत - प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम (शब्द) (तीन प्रमाण)

न्यायमत<sup>9</sup> – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द एवं 'उपमान' (चार प्रमाण)

प्राभाकर मीमांसक<sup>10</sup> - प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और 'अर्थापत्ति' (पाँच प्रमाण)

पौराणिक मत<sup>11</sup> - प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा 'ऐतिह्य' सात प्रमाण हैं।

उक्त सभी मतों से भिन्न पूर्वमीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय एवं अद्वैतवेदान्त वेदान्त में छः प्रमाण स्वीकार किए हैं - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. उपमान 4. आगम (शब्द) 5. अर्थापत्ति 6. अनुपलब्धि<sup>12</sup>

भारत के लगभग सभी दर्शन शब्द ज्ञान को स्वीकार मानते हैं। वैदिक परम्परा में अपौरुषेय वेदसर्वोपरि प्रमाणभूत है और परम्परा में हितोपदेशी तथा आप्त व्यक्ति के वचनों से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना है। शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानने के विषय में जहाँ एक ओर जैन, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा और वेदान्त दर्शन शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर चार्वाक, वैशेषिक और बौद्ध शब्द प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं।

## 1.2 जैन दर्शन में शब्द प्रमाण

जैन आगमिक परम्परा में ज्ञान के पाँच भेद हैं - 1. मति 2. श्रुत 3. अवधि 4. मनःपर्याय और 5. केवलज्ञान –

“मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्”<sup>13</sup> वहाँ इन पाँच ज्ञानों को पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है 1-प्रत्यक्ष 2. परोक्षा। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है-(1) केवल ज्ञान और (2) नोकेवलज्ञान। नोकेवलज्ञान के पुनः दो भेद किये गये हैं--(1) अवधि और (2) मनःपर्याय। तथा परोक्षज्ञान भी दो प्रकार से वर्णित है-(1) मति और (2) श्रुतज्ञान। श्रुतज्ञान ही शब्द प्रमाण है। अर्थात् जैन दर्शन में शब्द प्रमाण परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत आता है।

<sup>5</sup> शास्त्री, दुण्डिराज, वैशेषिक सूत्र -प्रशास्त्रपादभाष्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पृ० 156.

<sup>6</sup> प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते - स्वामी, योगीन्द्रानन्द, प्रमाणवार्तिक (आचार्य धर्मकीर्ति कृत) 2.63, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2013, पृ० 346.

<sup>7</sup> दृष्टमनुमानमापतवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः। - शास्त्री, राकेश, सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण कृत) कारिका सं० 03, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ० 58

<sup>8</sup> प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि १.७ - श्रीवास्तव, सत्यनारायण, योगसूत्र-व्यासभाष्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, 2009, पृ० 47.

<sup>9</sup> यथार्थानुभवश्चतुर्विधः प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् - भार्गव, दयानन्द, तर्कसंग्रह (अन्नम्भट्ट), मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ० 112.

<sup>10</sup> मिश्र, मण्डन, मीमांसा दर्शन-प्रमाण परिच्छेद, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1955, पृ० 377

<sup>11</sup> पूर्ववत्

<sup>12</sup> तानि च प्रमाणानि षट् - प्रत्यक्षानुमानोपमानागम-अर्थापत्तिअनुपलब्धिभेदात् - वि० शास्त्री, केशवलाल (अनु०), वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत) चौखम्भा संस्कृत सीरीज ओफिस, दिल्ली, 2012, पृ० 06

<sup>13</sup> तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १.४

### 1.2.1 श्रुत ज्ञान (शब्द प्रमाण) का स्वरूप

जैन दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य विद्यानन्द ने श्रुतज्ञान का स्वरूप को बताते हुए कहा है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विगमविशेष से श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मत से जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह अपने और वाच्यार्थ को जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। जैन दर्शन में श्रुत शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी श्रुतज्ञान के अर्थ में निहित है। यथा—

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात्  
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम्॥<sup>14</sup>

आशय यह है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरों का निरूपण वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।

जैन दर्शन में श्रुतज्ञान अर्थात् शब्द प्रमाण को आगम भी कहा गया जो जैन मुनियों के द्वारा कहा गया है अथवा जैन ग्रन्थों में निबद्ध है —

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्  
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।<sup>15</sup>

(जो न्यूनता बिना, अधिकता बिना, विपरीता बिना यथातथ्य वस्तुस्वरूप को निःसंदेह रूप से जानता है उसे आगमवन्तों का ज्ञान कहते हैं)

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादि  
सम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते  
तदागमशास्त्रं भण्यते।<sup>16</sup>

(वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये षड्द्रव्य व सप्त तत्त्व आदि का सम्यक्श्रद्धान व ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार भेद रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है उसको आगम या शास्त्र कहते हैं।)

### 1.2.2 श्रुतज्ञान का प्रामाण्य

जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण भी प्रमाण रूप माना जाता है। उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण रूप है। तथा जैन दार्शनिकों का यह भी कहना है कि चार्वाकों और बौद्धों के अपने शास्त्र हैं और उनको पढ़कर उनको जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान से भिन्न ज्ञान नहीं है। उनका यह भी कहना है कि इस शब्दजन्य श्रुतज्ञान के अभाव में गूँगे और वाग्मी में कोई विशेषता नहीं रहेगी क्योंकि मूर्ख को पण्डित बताने में या बालक को उतरोत्तर ज्ञानशाली बताने में शब्द ही प्रधान कारण है। जैनाचार्यों का कहना है कि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाने के कारण यदि सभी श्रुतज्ञानों को अप्रमाण ठहराया जायेगा तो सीप में चांदी

<sup>14</sup> तत्त्वार्थ श्लो. 1/20/1

<sup>15</sup> रत्नकरंड श्रावकाचार - श्लोक 42

<sup>16</sup> रत्नकरंड श्रावकाचार - श्लोक 42

का ज्ञान होना, एक चन्द्रमा को दो जान लेना आदि प्रत्यक्षों के अप्रमाण हो जाने से सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायेंगे, यह ठीक है कि प्रत्यक्षाभास के समान श्रुताभास भी मान लिया जाय, किन्तु उनका श्रुतज्ञान को एकदम अप्रमाण ठहराना कदापि उचित नहीं है। भारत के सभी धर्म और दर्शन श्रुत — आगम ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। वैदिक परम्परा में अपौरुषेय वेद सर्वोपरि प्रमाणभूत हैं और श्रमण परम्परा में सर्वज्ञ, वीतरागी एवं हितोपदेशी व्यक्ति के वचनों से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना है। व्यक्ति के निर्दोष और पूर्ण ज्ञानी होने से उसके द्वारा प्रतिपादित वचनों में किसी भी प्रकार की त्रुटि या भूल नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्ष समान आगम अथवा श्रुतज्ञान को भी प्रमाण माना गया है।

इस प्रकार जैन दर्शन में श्रुतज्ञान या आगम का बहुत महत्त्व है। यह श्रुतज्ञान अमृत समान हितकारी है, विषय-वेदना से सन्तप्त प्राणी के लिए परम औषधि है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका महत्त्व बताते हुए कहा है-

**जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।  
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥<sup>17</sup>**

जैन दर्शन में आगम को अनादि कहा गया है। इसके महत्त्व के विषय में जम्बूद्वीप अधिकार ग्रन्थ में कहा गया है कि पूर्व व अंग रूप भेदों में विभक्त, यह श्रुतज्ञान-प्रमाण देवेंद्रों व असुरेंद्रों से पूजित, अनंत सुख के पिंड रूप मोक्ष फल से संयुक्त, कर्मरूप पटल के मल को नष्ट करनेवाला, पुण्य पवित्र, शिव, भद्र, अनंत अर्थों से संयुक्त दिव्य नित्य, कलि रूप कलुष को दूर करने वाला, निकाचित, अनुत्तर, विमल, संदेहरूप अंधकार को नष्ट करने वाला, बहुत प्रकार के गुणों से युक्त, स्वर्ग की सीढ़ी, मोक्ष के मुख्य द्वारभूत, निर्मल, एवं उत्तम बुद्धि के समुदाय रूप, सर्व के मुखसे निकला हुआ, पूर्वापर विरोध रूप दोष से रहित विशुद्ध अक्षय और अनादि कहा गया है -

**देवासुरिदमहिय अणंतसुहपिंडमोक्खफलपउरं।  
कम्ममलपडलदलणं पुण्ण पवित्तं सिवं भद्दं ॥**

**पुव्वंगभेदभिण्णं अणंतअत्थेहिं सजुदं दिव्वं।  
णिच्चं कलिकलुसहरं णिकाचिदमणुत्तरं विमलं ॥**

**संदेहतिमिरदलणं बहुविहगुणजुत्तंसग्गसोवाणं।  
मोक्खग्गदारभूदं णिम्मलबुद्धिसंदोहं ॥**

**सव्वणहुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं।  
अक्खयमणादिणिहणं सुदणाणपमाणं णिद्धिं ॥<sup>18</sup>**

### 1.2.3 श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के मूल दो भेद हैं- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। आस के उपदेश तथा द्वादशांगवाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले ज्ञान को भावश्रुत कहते हैं। इसी कारण द्रव्यश्रुत को ग्रन्थरूपश्रुत

<sup>17</sup> दंसणपाहुड गाथा 17

<sup>18</sup> जंबूद्वीव-पण्णत्तिसंगहो अधिकार 13/80-83

और भावश्रुत को ज्ञानरूप श्रुत भी कहते हैं। ग्रन्थरूपश्रुत के मूल दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। साक्षात् तीर्थकर जिस अर्थ को अपनी पवित्र वाणी से प्रकट करते हैं और गणधर जिसका सूत्र रूप में ग्रन्थन करते हैं उसे “अंगप्रविष्ट” कहते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण विपाकसूत्र और दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का है तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यों के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह “अंगबाह्य” है। वह दशकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प, कहाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अंगबाह्य अंगप्रविष्ट के समान ही प्रमाण रूप है, क्योंकि गणधर परम्परा के आचार्यों ने अंगप्रविष्ट ग्रन्थों को आधार बनाकर ही कालदोष से कम आयु, बल और बुद्धि वाले शिष्यों के हितार्थ दशकालिक आदि ग्रन्थों की रचना की है। इसलिए इन ग्रन्थों की उतनी ही प्रामाणिकता है, जितनी गणधरों और तीर्थकरों के द्वारा रचित सूत्रों की है, क्योंकि ये अर्थ की दृष्टि से सूत्र ही हैं, जैसे क्षीरसागर से घड़े में भरा हुआ जल क्षीरसागर के जल से भिन्न नहीं होता है वैसे ही अंगबाह्य अंगप्रविष्ट से भिन्न नहीं है।

### 1.3 सांख्य दर्शन में शब्द प्रमाण

सांख्यदर्शन का मुख्य विवेच्य प्रकृति और पुरुष है। प्रकृति और प्रमेय हैं। इसी आधार इस दर्शन को प्रमेय विद्या का प्रतिपादक माना जाता है। प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है। बिना प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है। इन तत्त्वों की सिद्धि में प्रमाण हैं। सांख्य दर्शन में इन तत्त्वों को सिद्ध करने के लिए तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। वे प्रमाण हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन (शब्द प्रमाण)। प्रमाणों की संख्या न तीन से अधिक है और न ही कम। इसीलिए अधोलिखित कारिका में कहा गया है-त्रिविधंप्रमाणमिष्टम्। अर्थात् तीन प्रमाण स्वीकृत हैं –

**दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणासिद्धत्वात्।**

**त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।<sup>19</sup>**

(कारिकार्थ : प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है और (अन्य) सभी प्रमाणों के असिद्ध होने के कारण (सांख्य दर्शन में) तीन प्रमाण स्वीकृत हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्य ) यहाँ सांख्यकारिका में शब्द प्रमाण के लिए ही आप्तवचन शब्द का प्रयोग किया गया है।

महर्षि कपिल के अनुसार आप्त व्यक्ति के उपदेश वचन को शब्द प्रमाण कहा जाता है - आप्तोपदेशः शब्दः।<sup>20</sup> विज्ञान भिक्षु 'आप्ति' को योग्यता के अर्थ में स्वीकार करते हैं। विज्ञानभिक्षु योग्य शब्द से उत्पन्न ज्ञान को शब्द प्रमाण और कारण भूत शब्द को प्रमाण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश 'स्वकर्मण्यभियुक्तो रागद्वेषरहितो ज्ञानवान् शीलसम्पन्नः'<sup>21</sup> को आप्त कहते हैं। उन आप्तों के वचनों का शब्द कहा जाता है। ईश्वरकृष्ण 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु'<sup>22</sup> के रूप में शब्द प्रमाण को स्पष्ट करते हैं अर्थात् श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों

<sup>19</sup> सांख्यकारिका 4

<sup>20</sup> सांख्यसूत्र १।६६

<sup>21</sup> तत्त्वयाथार्थ्यदीपन सं.रा.शं. भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी पृ 23

<sup>22</sup> सांख्यकारिका 4



को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है। श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है।

श्रुति क्या है ? सामान्य रूप से श्रुति पद का प्रयोग वेद के लिए किया जाता है। वेद के पर्याय वदों में श्रुति का भी उल्लेख है। वेद में प्रतिपादिक ज्ञान का प्रवाह श्रवण परम्परा से ही दीर्घ काल तक हुआ है, इसीलिए वेद को श्रुति कहते हैं। श्रुति पद की व्युत्पत्ति है - श्रूयते इति श्रुतिः अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य वाक्य श्रुति है। यहाँ श्रुति को वाचस्पति मिश्र 'वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्'<sup>23</sup> कहते हैं और इसे (श्रुति प्रमाण को) स्वतः प्रमाण कहते हैं। यह स्वतः या स्वतंत्र प्रमाण 'अपौरुषेयवेद वाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशंका विनिर्मुक्तेत्युक्तं'<sup>24</sup> होता है। न केवल सकल दोषाशंका रहित होने से अपौरुषेय वेद वाक्य जनित ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है अपितु वेदमूलक स्मृति, इतिहास पुराणादि के वाक्य भी शब्द प्रमाण होते हैं। शब्द प्रमाण की यह स्वतः प्रमाणता शब्द की अपना ज्ञान कराने की शक्ति के कारण है।

## 1.4 योग दर्शन में शब्द प्रमाण

योग दर्शन में तीन प्रमाण स्वीकृत हैं - 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. आगम (शब्द)-प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि<sup>25</sup> शब्द के लिए आगम शब्द का प्रयोग किया है। व्यास भाष्य (1.1.7) में लिखित है कि अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्त्वज्ञानी अर्थात् यथार्थदृष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है। जिस आगम का वक्ता अश्रद्धेय बात कहने वाला तथा (अभिधीयमान) पदार्थ का प्रत्यक्ष या अनुमान न कर सकने वाला हो, वह आगम भ्रष्ट (अप्रामाणिक) होता है। मूलवक्ता के दृष्टानुमितार्थ होने पर आगम होता है ॥ - आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये शब्देनोपदिश्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतु- रागमः। यस्याश्रद्धेयार्थी वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते। मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थं निविप्लवः स्यात् ॥<sup>26</sup>

यहाँ भाष्य में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि किस प्रकार का शब्द प्रमाण कहा जाता है तथा किस प्रकार के शब्द को अप्रामाणिक कहा जाता है -यस्याश्रद्धेयार्थी वक्ता न दृष्टानुमितार्थः, स आगमः प्लवते जिस आगम का वक्ता पदार्थ के प्रत्यक्ष या अनुमित ज्ञान से शून्य और इसीलिए अश्रद्धेयार्थी होता है, वह आगम नाम की वृत्ति प्लुत होती है अर्थात् सदोष होती है अतः इस प्रकार के शब्द को अप्रामाणिक कहा जाता है। उसे प्रमाण की कोटि में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता - प्रमाणवृत्तिजननासमर्थ इत्यर्थः।<sup>27</sup>

मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थं निविप्लवः स्यात् - आगम-वृत्ति, सुनने वाले की बुद्धि में बनती है; किन्तु बनती है कहनेवाले के कथन से श्रोता उस वृत्ति का निमित्त नहीं होता, इसलिए इस वृत्ति का मूल कारण अन्य वृत्तियों से असमान अर्थात् प्रमाता से भिन्नस्थानीय होता है। इसलिए इसमें आये हुए 'मूल' शब्द को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए इसीलिए 'वक्तरि' के पहले

<sup>23</sup> सांख्यकौमुदी,सांख्यकारिका 5

<sup>24</sup> सांख्यकौमुदी,सांख्यकारिका 5

<sup>25</sup> पतंजलिसूत्र 1.1.7

<sup>26</sup> पतंजलिसूत्र-व्यासभाष्य 1.1.7

<sup>27</sup> योगवार्तिक पृ० ३२

भाष्यकार ने 'मूल' शब्द लगा दिया है। अन्य प्रमाणों में ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में प्रमाता उत्तरदायी होता है जबकि 'आगम-प्रमाण' में प्रमाता के स्थान पर 'मूलवक्ता' उत्तरदायी होता है। इसीलिए कहा गया है कि जब 'मूलवक्ता' ठीक से अर्थ को प्रत्यक्षीकृत या अनुमित किये होता है, तभी वह आगम निर्दोष एवं शुद्ध होता है। वाचस्पतिमिश्र ने यहाँ पर 'मूलवक्ता' शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है - **मूलवक्तरि हि तत्रेश्वरो दृष्टानुमितार्थः।**<sup>28</sup>

## 1.5 न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण

### 1.5.1 शब्द प्रमाण का स्वरूप

आप्त = जो व्यक्ति किसी विषय का जाना-माना ज्ञाता हो, और जो किसी बाह्य प्रभाव से अपने मत को झुठला नहीं सकता, ऐसे आप्त पुरुष के वचन प्रामाणिक होते हैं। और ये वचन दो प्रकार के होते हैं - दृष्ट विषयों से सम्बद्ध और अदृष्ट विषयों से सम्बद्ध। आप्त जनों के उपदेश में इतना सामर्थ्य होता है कि कहे शब्द के अर्थ की प्रतीति श्रोता को हो जाती है -

**आप्तोपदेशः शब्दः। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥**<sup>29</sup>

**आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥**<sup>30</sup>

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार जिसने यथार्थ वस्तु को देखा हो वह आप्त है चाहे वह ऋषि हो आर्य हो या म्लेच्छ -

**साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिस्तथा प्रवर्तत इत्याप्तः।**

**ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्।**<sup>31</sup>

न्यायदर्शन के प्रकरण ग्रन्थ तर्कसंग्रह के अनुसार आप्त व्यक्ति के वाक्य को शब्द कहते हैं। आप्त का अर्थ है- यथार्थवक्ता (जो रागद्वेषादि से भी असत्य न बोले)। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे 'गामानय' यह सुबन्त-तिडन्त पदसमूह वाक्य है। पद कहते हैं शक्ति को, अर्थात् जिसमें शक्ति होती है वह पद है। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए इस प्रकार के ईश्वर के सङ्केत कोशक्ति कहा जाता है। कोई भी पद शक्ति के कारण ही अर्थ का बोध कराता है। प्रत्येक पद के आदि में ईश्वरसंकेतरूप शक्ति है। इस पद से यह अर्थ जानें, यह ईश्वरसंकेत है। उस संकेत से हम लोग विशेष अर्थ में विशेष शब्द का प्रयोग करते हैं, यह नैयायिक-मत है। 'घटपद से घटरूप अर्थ समझना चाहिये, इस प्रकार की ईश्वरेच्छा ही शक्ति है- **आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा एक गामानयेति शक्तं पदम्। अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः।**<sup>32</sup>

शक्ति का अर्थ है-'स्मृति के अनुकूल पद और अर्थ का सम्बन्ध होना' यही शक्ति का लक्षण है। शक्ति के समान लक्षणा भी पद में रहने वाली (वृत्ति) है। अब लक्षणा क्या है? तो कहते हैं कि शक्य-सम्बन्ध लक्षणा है। शक्तिसम्बन्ध से उपस्थापित अर्थ का अर्थान्तर से सम्बन्ध लक्षणा है। यह तीन प्रकार की है—1. जहत् लक्षणा, 2 अजहत् लक्षणा और 3. जहत्-अजहत्

<sup>28</sup> तत्त्ववैशारदी पृ० ३४

<sup>29</sup> न्यायसूत्र १।१।७

<sup>30</sup> न्यायसूत्र २।१।८

<sup>31</sup> न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य १.१.७

<sup>32</sup> तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

लक्षणा। गङ्गायां घोषः= गंगा के तीर में घर है। यहाँ पर 'गंगा' पद का वाच्य अर्थ प्रवाह है, (प्रवाह में घर नहीं हो सकता) अतः प्रवाह का सम्बन्ध 'तीर' के साथ है, अतः गंगापद का अर्थ यहाँ तीर हुआ। तात्पर्य की अनुपपत्ति= संगति नहीं बैठना ही लक्षणा का बीज = कारण है। अतः 'गङ्गायां घोष' ऐसा कहने पर, गंगा=प्रवाह, में घर का होना अनुपपन्न होता है, तब गंगापद का अर्थ तीर, लक्षणा द्वारा सिद्ध होगा। जहाँ शक्यार्थत्याग के बिना लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वह अजहत् लक्षणा है। जैसे छत्रधारी जा रहे है। यहाँ कुछ बिना छत्र के भी जा रहे होते हैं, तब भी समूह में छत्रधारी शब्द का प्रयोग हुआ। यहाँ शक्यार्थ छत्रधारी के साथ लक्ष्यार्थ-अछत्रधारी के भी गमन का बोध जो होता है, वह अजहत् लक्षणा से होता है। सोऽयमधूः = यह वही अश्व है। इस स्थल में जहत् अजहत् लक्षणा है। जहदजहल्लक्षणा में कुछ अर्थ छोड़ दिया जाता है तथा कुछ अर्थ नहीं छोड़ा जाता है।

### 1.5.2 वाक्यार्थज्ञान

वाक्यार्थ के ज्ञान में तीन हेतु हैं :- 1.आकांक्षा 2.योग्यता और 3.सन्निधि - आकाङ्क्षायोग्यतासन्निष्टयि वाक्यार्थज्ञाने हेतुः।<sup>33</sup>

1. आकांक्षा :- पदस्य पदान्तरव्यतिरेक- प्रयुक्ताऽन्वयाऽनुभावकत्वमाकाङ्क्षा।<sup>34</sup>  
एक पद का दूसरे पद के अभाव से जहाँ शाब्दबोध की जनकता नहीं होती है वह आकांक्षा है। जैसे—'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती' यह पदसमूह परस्पर आकांक्षादि से रहित है, अतः प्रमाण नहीं है।
2. योग्यता -अर्थाबाधो योग्यता।<sup>35</sup>अर्थ का बाधित नहीं होना योग्यता है। इस प्रकार आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रमाण होते हैं जैसे वह्निना सिञ्चति = आग से सींचता है। यह वाक्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि यहाँ योग्यता का अभाव है। अर्थात् आग से सींचने का कार्य नहीं होने से सिंचन-योग्यता का अभाव है, अतः ऐसे वाक्य प्रमाण नहीं होते।
3. सन्निधि -पदानाम- विलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः। अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध-बाध न होना योग्यता है। पदों का विलम्ब किये बिना उच्चारण करना सन्निधि है। प्रहर-प्रहर में, एक साथ उच्चारित न किये गये 'गाम् आनय' इत्यादि पद भी प्रमाण नहीं है, सान्निध्य के अभाव से। सान्निध्य = सामीप्य, यदि परस्पर उच्चारित शब्दों में न हो तो वह वाक्य प्रमाण नहीं होता।

### 1.5.3 वाक्यार्थज्ञान का स्वरूप

वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही 'शाब्दज्ञान' है। शाब्दज्ञान का असाधारणकारण शब्द है - वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं तु शब्दः।<sup>36</sup>

शाब्दबोध का क्रम इस प्रकार है- चैत्रो ग्रामं गच्छति—चैत्र गांव जाता है, यहाँ पर ग्रामकर्म वाले गमन के अनुकूल वर्तमानकालिककृति (प्रयत्न) वाला चैत्र है, ऐसा शाब्दबोध होता है। ग्रामम् में द्वितीयाविभक्ति का अर्थ कर्मत्व है। गम् धातु का अर्थ गमन है, और अनुकूलत्व,

<sup>33</sup> तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

<sup>34</sup> तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

<sup>35</sup> तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

<sup>36</sup> तर्कसंग्रह शब्दप्रमाणखण्ड पृ २५

संसर्ग= सम्बन्ध की मर्यादा से भासित होता है। गच्छति पद में वर्तमानत्व अर्थ लट् लकार का है। आख्यात = तिङ् का अर्थ कृति है, और उसका सम्बन्ध संसर्ग की मर्यादा से प्रकाशित है।

रथः गच्छति = रथ जाता है। इस वाक्य से 'गमन के अनुकूल व्यापार वाला रथ है', यह शाब्दबोध होता है। स्नात्वा गच्छति -स्नान कर जाता है। यहाँ पर 'गमन के प्रागभाव से युक्त काल में स्नान करने वाला, गमन के अनुकूल वर्तमानकालिक कृतिवाला' ऐसा शाब्दबोध होता है। 'स्नात्वा' में क्त्वाप्रत्यय का अर्थ कर्त्ता और पूर्वकालीनत्व = 'पूर्वकाल में होना' यह है। अन्य स्थान में इसी प्रकार वाक्यार्थबोध मानना चाहिए।

नैयायिक शाब्दबोध करते समय प्रथमान्तार्थ = कर्त्ता को मुख्य मानते हैं, वे तिङ् का अर्थ कृति मानते हैं। नैयायिकों को अचेतनकर्त्ता वाले स्थल में व्यापार अर्थ की प्रधानता माननी पड़ती है। जैसे कि रथो गच्छति में ऊपर बताया गया है वैयाकरण शाब्दबोध में सर्वत्र व्यापार=क्रिया को, मुख्य मानते हैं। उनके मत में आख्यातार्थ कर्त्ता कर्म संख्या व काल होता है।

## 1.6 पूर्वमीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण

### 1.6.1 पूर्वमीमांसा में शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं भेद

मीमांसक अनुमान प्रमाण के अनन्तर शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के मत में शब्द प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा गुरुत्त्वपूर्ण है। आस वाक्य ही शब्द है। किसी भी वाक्य के अन्तर्गत पदों के अर्थबोध से अनन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है, वह शब्द ज्ञान कहा जाता है। कहा गया है-

तत्र तावत् पदैर्जातैः पदार्थस्मरणे कृते।

असन्निकृष्ट वाक्यार्थज्ञानं शाब्मितीर्यते ॥<sup>37</sup>

शब्द ज्ञान में पदार्थ ही करण है, वाक्यार्थ का अवबोध फल है। शब्द प्रमाण दो प्रकार का है- पौरुषेय और अपौरुषेय। मीमांसकों के मत में आस वाक्य पौरुषेय है, वेदवाक्य अपौरुषेय है - तच्च शाब्दं द्विविधं पौरुषेयमपौरुषेयं च। तत्राप्तवचः पौरुषेयं, वेदवचोऽपौरुषेयम्।<sup>38</sup> प्रभाकर में दोष होते हैं, उससे पौरुषेय वाक्य प्रमाण पदवी को प्राप्त नहीं करते। इसीलिए कहा जाता है-

अपौरुषेये वेदे तु पुरुषस्पर्शसन्नतः।

कल्यो न विशङ्क्येत तत् कृतो व्यभिचारिता ॥<sup>39</sup>

इसका अर्थ है- पुरुष दोष अपौरुषेय वेद में शङ्कित होते हैं, उससे अपौरुषेय वेद का ही प्रामाण्य है, व्यभिचारों के अभाव के कारण।

शब्द- प्रमाण पर मीमांसकों का विशिष्ट विवेचन प्राप्त होता है। पदों से निर्मित उन वाक्यों को शब्द प्रमाण कहते हैं जिनसे हमें परोक्षार्थ ज्ञान मिलता है तथा जिन्हें हम आस साधन से पाते हैं। ये वाक्य पौरुषेय (आस पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त) तथा अपौरुषेय ( वेदवाक्य) हो सकते हैं। पौरुषेय वाक्य तो यथार्थवक्ता के द्वारा प्रयुक्त होने पर ही प्रामाणिक होते हैं किन्तु अपौरुषेय वाक्य

<sup>37</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९१३

<sup>38</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा

<sup>39</sup> मानमेयोदय ९१०

स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। पदों का अर्थ तो हमें पूर्व- ज्ञात रहता है जिससे उसे प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु उन ज्ञात पदों के अर्थों के संबन्ध पर आश्रित वाक्यार्थ का ज्ञान हमें किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता, अतः पृथक् शब्द-प्रमाण मानने की आवश्यकता है। इस वाक्यार्थ के विषय में मीमांसकों का विशेष अभिनिवेश है।

वाक्य का आरम्भ वस्तुतः वर्णों से ही होता है। प्रत्येक शब्द वर्णात्मक होता है। ये वर्ण (जों पद के अवयव हैं) अपना पृथक् अर्थ नहीं देते, केवल श्रुतिगोचर होते हैं। इनका श्रुतिविषय होना ही पद के अर्थज्ञान का साधन है। किन्तु हम जो किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान पाते हैं उसका कारण वर्णों की अर्थवत्ता ही है जिसे अर्थापत्तिप्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है (= अन्यथा शब्दार्थ की अनुपपत्ति होगी)। प्रत्येक वर्ण का प्रत्यक्ष स्वयं समाप्त होकर वर्ण-संस्कार को छोड़ता जाता है। प्रत्येक पूर्ववर्ण के संस्कारों को लेकर अन्तिम वर्ण तक हम जैसे ही पहुँचते हैं हमें शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है। यदि पूरा शब्द सुनने के बाद भी श्रोता को अर्थबोध नहीं हो तो समझना चाहिए कि अर्थज्ञान के लिए आवश्यक कुछ सहकारियों की कमी श्रोता में है। शब्दशक्ति का आरंभ चूँकि वर्णों की पृथक्-पृथक् शक्तियों से होता है अतः ये शक्तियाँ ही शब्दज्ञान का साक्षात् कारण है।

मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि सभी शब्दों में अर्थबोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है— श्रोता बोध करें या न करें। इसे जैमिनि ने अपने सुप्रसिद्ध औत्पत्तिक-सूत्र (11115) में स्पष्ट किया है— **औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः।**<sup>40</sup> श्रोता शब्द-श्रवण के बाद भी तबतक उसके अर्थ का ग्रहण नहीं कर सकेगा जबतक उसे इस सम्बन्ध का ज्ञान न हो कि अमुक शब्द में अमुक अर्थ बोध कराने की शक्ति है। किन्तु श्रोता के अज्ञान का शब्दार्थ-संबन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता-शब्द में तो अर्थबोध की स्वाभाविकता शक्ति रहेगी ही। शब्दार्थ-संबन्ध न तो परंपरा पर निर्भर है, न ईश्वरादि की इच्छा पर (जैसा कि नैयायिक लोग मानते हैं)। केवल व्यक्तिबोधक नामों के विषय में हम परम्परा पर निर्भर करते हैं। इस सिद्धान्त का साक्षात् प्रभाव हम वैदिक विधियों के स्वतः प्रामाण्य पर देख सकते हैं। इन विधियों के अनुष्ठान से ही हमें अन्यथा अज्ञातव्य फलों की प्राप्ति होती है। नैयायिकों के विपरीत, मीमांसक लोग शब्द को नित्य मानते हैं। नित्य होने पर भी शब्द को प्रकाशित करने की आवश्यकता होती है जो उच्चारण करनेवाले पुरुष के प्रयत्न से संभव है। नैयायिक पुरुष प्रयत्न को जहाँ शब्द का उत्पादक समझते हैं, मीमांसक इसे शब्द का प्रकाशक मात्र मानते हैं।

वाक्यार्थ-विषयक दो परस्पर भिन्न मत मीमांसकों में पाये जाते हैं –

### 1.6.2 अन्विताभिधान-वाद

प्रभाकर का मत है कि विधायक वाक्यों में रहनेवाले शब्दों से ही शब्दार्थ-ज्ञान होता है, पृथक् शब्द का ज्ञान नहीं होता। किसी उत्तमवृद्ध के द्वारा प्रयुक्त - गामानय, अश्वं बधान ( गाय को ले आओ, घोड़े को बाँध दो ) इत्यादि-वाक्यों को सुनकर जब मध्यमवृद्ध र कार्य में प्रवृत्त होता है तब सामने बैठा बालक उत्तमवृद्ध के शब्दों को सुनकर तथा मध्यमवृद्ध के कार्यों को देखकर अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण से जान लेता है कि गौ तथा अश्व शब्दों का अमुक अर्थों के साथ संबन्ध है। इस प्रकार किसी विधिवाक्य में अन्य तथ्यों के साथ संबद्ध रहने पर ही शब्दार्थों का बोध शब्दों से होता है। प्रभाकर के इस सिद्धान्त को **अन्विताभिधान- वाद** ( विधिवाक्य

<sup>40</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा पृ १३४

में परस्पर अन्वय से युक्त पदों का अर्थबोध होना ) कहा जाता है। तद- नुसार 'गामानय' में गाम्- पद का श्रवण करते ही यह बोध होता है कि गो-जाति के साथ कुछ क्रिया होनी है, यह क्रिया 'आनय' के द्वारा प्रकाशित होती है -वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः॥<sup>41</sup>

सकलपदान्तरपूर्तावितरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम्।  
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानमतम् ॥<sup>42</sup>

### 1.6.3 अभिहितान्वयवाद

कुमारिल का मत है कि वाक्य में प्रत्येक पद का पृथक्-पृथक् अभिधान होता है। इन अर्थों को योग्यता, आकांक्षा तथा संनिधि की सहायता से वाक्यार्थ के रूप से जोड़ देते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ और पदार्थ भिन्न तथ्य हैं। वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद ( प्रत्येक शब्द के पृथक्-पृथक् अर्थों का बोध हो जाने पर वाक्य में अन्वय करना) कहा जाता है। वाक्यार्थ के विषय में नैयायिकों की भी यही मान्यता है -

आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवशाद्दृश्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्<sup>43</sup>

अत्राकाङ्क्षा च योग्यत्वं सन्निधिश्चेति तत् त्रयम्।  
वाक्यार्थावगमैः सर्वैः कारणत्वेन कल्प्यते ॥<sup>44</sup>

गौरश्चः पुरुषो हस्तीत्याकाङ्क्षारहितेष्विह।  
अन्वयादर्शनात् तावदाकाङ्क्षा परिगृह्यते ॥<sup>45</sup>

अग्निना सिञ्चतीत्यादावयोग्यानामन्वयात्।  
योग्यतापि परिग्राह्या सन्निधिस्त्वथ कथ्यते ॥<sup>46</sup>

प्रभाकर केवल वेद की विधियों को ही शब्द-प्रमाण मानते हैं। जैसे-स्वर्गकामो यजेत। अन्य सभी स्थितियों में बोलनेवाले की आप्तता के आधार पर शब्दों के प्रामाण्य का अनु- मान होता है। कुमारिल आप्त पुरुषमात्र के शब्दों को शब्द प्रमाण में रखते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रकृत में उपयोगी होने के कारण जिसे शास्त्र कहा जाता है, वहीं शब्द प्रमाण है। कुमारिल के अनुसार लोक सिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष की तरह उसकी भी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। नैयायिक शब्द बोध के प्रति ज्ञायमान पर अथवा पद-ज्ञान को कारण मानते हैं। परन्तु भाट्ट मीमांसक पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है, उसे ही शब्द प्रमाण कहते हैं। नारायण भट्ट ने भी इसी का समर्थन किया है।" पार्थसारथी मिश्र ने उपर्युक्त कथन में यह भी जोड़ा कि इस प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान हो वह 'नवीन' होना चाहिए।

पूर्वमीमांसा में शब्द प्रमाण का अत्यन्त महत्त्व है। पूर्वमीमांसा में यहां तक कहता है कि धर्म प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है -

<sup>41</sup> काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास सूत्र ७ पर व्याख्या

<sup>42</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा पृ १३४

<sup>43</sup> काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास सूत्र ७ पर व्याख्या

<sup>44</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९४३

<sup>45</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९५३

<sup>46</sup> मानमेयोदय-शब्दपरीक्षा ९६३

तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।<sup>47</sup> यह तो स्पष्ट ही है कि परोपकार करने से हमें भविष्य में सुख प्राप्त होगा, इसका कहां प्रत्यक्ष है ? अनुमान से भी हम इस निष्कर्ष पर कभी नहीं पहुंच सकते। सो वेद का स्वतः शब्द प्रमाण, अर्थात् जिसको किसी और वचन से अनुमोदन की आवश्यकता नहीं है,। पूर्वमीमांसा दर्शन ने अदृष्ट धर्म की परिकल्पना मस्तिष्क में उत्पन्न की, उसके फल, उसके लिए कर्म, सब का मनुष्यमात्र के लिए वर्णन किया। मीमांसकों ने शब्द को नित्य ( eternal ) माना है। इसकी न तो उत्पत्ति होती है न ही विनाश। शब्द का अस्तित्व अनादिकाल से है। दूसरी ओर नैयायिकों के मत में शब्द को अनित्य ( non-eternal ) माना गया है, अर्थात् इसकी उत्पत्ति और विनाश होता है।

## 1.7 उत्तरमीमांसा (अद्वैत वेदान्त) दर्शन में शब्द प्रमाण

### 1.7.1 वेदान्तदर्शन में शब्द प्रमाण का स्वरूप एवं भेद

जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित न हो, तो ऐसा वाक्य प्रमाण माना जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य- ये चार कारण माने जाते हैं। हर एक वाक्य का अपना तात्पर्य होता है। पदार्थों के संसर्ग-सम्बन्ध को बोध कराना तात्पर्य का कार्य है और वह संसर्गबोध यदि किसी अन्य प्रमाण से बाधित न होता हो, तो वह वाक्य प्रमाण माना जाता है। 'गामानय' इस वाक्यश्रवण के बाद, - श्रवणप्रत्यक्ष के बाद- "गाय को लाओ" - ऐसा जो अर्थज्ञान होता है, वही शाब्दी प्रमाण है। इस शाब्दी प्रमाण का कारण वाक्य है (श्रोत्र नहीं)। पदार्थ का बोध अवान्तर व्यापार है, और प्रत्येक पद का अपने अपने अर्थ में पूर्व से हुआ शक्तिग्रह सहकारी कारण माने गए हैं। इस सबके रहते जो शब्दज्ञान होता है, उसे 'शाब्दी प्रमाण' कहा जाता है -

यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्।  
वाक्यजन्यज्ञाने च आकांक्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं च इति चत्वारि कारणानि।

### 1.7.2 शाब्दबोध के चार सहकारी कारण

शाब्दबोध के चार सहकारी कारण - आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य हैं। उनमें से क्रमशः हर एक का स्पष्टीकरण किया जा रहा है -

#### 1. आकांक्षा

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा। क्रियाश्रवणे कारकस्य कारकश्रवणे क्रियायाः करणश्रवणे इतिकर्तव्यतायाश्च जिज्ञासाविषयत्वात् ऽजिज्ञासोरपि वाक्यार्थबोधात्' योग्यत्व मुपात्तम्। पहले आकांक्षा का स्वरूप और आवश्यकता को बताया जाता है। पदों के श्रवण से पदार्थ का बोध होता है। किन्तु इन पदार्थों में एक-दूसरे के प्रति जिज्ञासा विषय की योग्यता रहती है। इसी को यहाँ पर 'आकांक्षा' का नाम दिया गया है। जैसे 'गामानय' - 'गाय को लाओ' इस वाक्य के पहले 'गाय को' यह पद सुना, गाय को द्वितीया विभक्ति-कर्म विभक्ति का, अर्थज्ञान हुआ, अब जिज्ञासा होती है गाय को क्या करें? दोहें, बाँधें? लाएँ ? इसी प्रकार 'आनय' - 'लाओ'

पद को भी सुना, इतिकर्तव्यता का अर्थबोध हुआ, आज्ञार्थ-मध्ययम पुरुष एकवचन है, यहाँ जिज्ञासा होती है किसको क्या लाना है? तो इन दोनों पदार्थों में परस्पर के लिए जो जिज्ञासा का विषयत्व है, वही है 'आकांक्षा'।

## 2. योग्यता-

**योग्यता तात्पर्यविषयसंसर्गाबाधः। वह्निना सिञ्चति इत्यादौ तादृशसंसर्गाबाधान्न योग्यता। स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत् इत्यादावपि तात्पर्यविषयीभूतपशुप्राशस्त्याबाधात्योग्यता।** जहाँ पर वाक्य के तात्पर्य विषयभूत जो सम्बन्ध का अन्य प्रमाण से बाध न होता हो, तो वहाँ वाक्यार्थबोध करने की योग्यता है।” यह योग्यता की व्याख्या है। उदाहरणार्थ 'गामानय' – इस वाक्य में योग्यता विद्यमान है, क्योंकि 'गोकर्मक' 'आनय' – क्रियारूप - इस वाक्य का तात्पर्य, विषयभूतसंसर्ग, किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं है। सावयव तथा परिच्छिन्न होने से आनमनक्रिया के साथ, कर्मत्वरूप से गो का सम्बन्ध संभव ही है। इसलिए इसका बाध कोई भी नहीं कर सकता। परन्तु 'अग्निना सिञ्चति' इस वाक्य का वह्निकरणक सेचन क्रियारूप तात्पर्य विषयीभूतसंसर्ग तो प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। कहीं भी कोई भी आग से गीला होता हुआ देखा-सुना नहीं गया है। आग से तो गीलेपन का शोष ही होता है।

इसलिए वह्निकरणक सेचन क्रिया का प्रत्यक्ष से बाध हो जाने से 'वह्निना सिञ्चति'- आदि वाक्य में योग्यता नहीं मानी जाती। 'स प्रजापतिरात्मनो यथामुदखिदत्'—“उस प्रजापति ने अपनी वपा (चरबी) खरोच डाली” – आदि वाक्यों में पशुयाग की प्रशंसा अर्थवाद से की गई है। यहाँ अपनी वपा को खरोच डालना तो प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध बात है। वह प्रत्यक्षप्रमाणबाधित है। दूसरे की वपा को तो कोई खरोच सकता है, पर अपनी वपा को खरोचना तो कभी देखा नहीं गया। इसलिए यह वाक्य अप्रमाणिक है। तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्य, विषयीभूत संसर्ग- चरबी-के खरोचने में नहीं है। किन्तु पशुयाग की प्रशंसा में है। इसका मतलब यह है कि पशुयाग इतना श्रेष्ठ है कि जिसकी सिद्धि के लिए प्रजापति ने भी खुद अपनी वपा- चरबी— का उल्टात किया था। इस प्रकार प्रशंसा बताकर पाशुयाग करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। यहाँ यह याद रखने की जरूरत है कि योग्यता के होते हुए भी यदि वह ज्ञापमान नहीं है तो ऐसी अज्ञात योग्यता वाक्यार्थबोध में कारण हो नहीं सकती। अतः ज्ञायमान योग्यता ही वाक्यजन्यज्ञान में सहकारिकारण है। अज्ञात-अकेली-विद्यमान योग्यता नहीं।

## 3. आसत्ति (सन्निधि)-

**आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः।**

अव्यवहित रूप से पदजन्य पदार्थों की जहाँ उपस्थिति होती है, वह 'आसत्ति' है। आसत्ति का लक्षण देते हैं – व्यवधानरहित पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति को आसत्ति कहते हैं। पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति से आशय है - अन्य प्रमाणों के द्वारा उपस्थापित पदार्थ का वाक्यार्थबोध में अन्वय नहीं होता। उदाहरण - 'ओदनं पश्य' – 'भात को देखो', और 'चन्द्रं भुंक्ष्व' – 'चन्द्र को खाओ'- इन दोनों वाक्यों में प्रत्येक में दोनों पदों की उपस्थिति अव्यवहितरूप से बनी ही रही है।



#### 4. तात्पर्य - तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्<sup>48</sup>

अर्थात् पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जैसे गेहे घटः-घर में घड़ा है, इस वाक्य में गेह आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध की प्रतीति कराने की योग्यता इस वाक्य में है। इसलिये इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधाराधेयभाव सम्बन्ध का बोध श्रोता को हो जाता है। इसलिये चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति भी वेदमन्त्र का उच्चारण करे फिर भी उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्गजनन योग्यता रूप तात्पर्य के होने से श्रोता को शाब्द बोध हो जाता है। अव्युत्पन्न अध्यापक के द्वारा उच्चारण किये गये वाक्य में भी विवक्षित पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति जनन योग्यता विद्यमान रहने के कारण ही व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को शाब्दबोध हो जाता है। जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उनको भी उक्त योग्यता के कारण ही शाब्दबोध होता है, क्योंकि वह योग्यता रूप तात्पर्य शब्द में रहने वाला धर्म है। वह तात्पर्य वक्ता के अधीन नहीं है जैसा कि न्याय ने स्वीकार किया है- वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्। इसलिये जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्गप्रतीतिजनन में समर्थ है वह वाक्य तत्परक होता है। अर्थात् उस वाक्य से उसी अर्थ का बोध होता है। उससे अन्य का नहीं। जैसे 'गेहे घटः' यह वाक्य गेह और घट के संसर्गबोधन में समर्थ है गेह और घट के संसर्गबोधक में नहीं।

#### 1.7.3 अद्वैतवेदान्त में वेद का प्रामाण्य

भारतीय दर्शन वेद की प्रामाणिकता प्रायः सभी आस्तिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। परन्तु न्याय एवं मीमांसा में वेद के नित्यत्व एवं प्रामाण्य को लेकर अधिक चिन्तन हुआ है। अतः अद्वैत वेदान्त में वेद के नित्यत्व एवं प्रामाण्य को लेकर न्याय एवं मीमांसा में भेद है। वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थ में इस विषय पर चर्चा हुई है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार नैयायिकों का यह कहना है कि, नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा प्रणीत होने से वेद में प्रामाण्य है मीमांसकों का कहना यह है कि वेद नित्य हैं, और पुरुषदोषों से रहित हैं, इसलिए वेदों का प्रामाण्य है -

तत्र वेदानां नित्यसर्वज्ञपरमेश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिति - नैयायिकाः। वेदानां नित्यत्वेन निरस्तसमस्तपुंदूषणतया प्रामाण्यमिथ्यध्वरमीमांसकाः।<sup>49</sup>

अद्वैत वेदान्त के अनुसार पौरुषेयत्व का अर्थ कर देने से सृष्टि के आरम्भकाल में परमेश्वर ने पूर्वकाल में (सृष्टि के आरंभ के पूर्वकाल में) सिद्ध वेदों के समान आनुपूर्वी-क्रमसहित बनाया। उनसे विजातीय-विपरीत-क्रमवाले वेदों को नहीं। इसलिए सजातीय-समान-क्रमवाले उच्चारण की अपेक्षा किए बिना उच्चारण करने वाला पौरुषेयत्व तो वेदों में नहीं है। इसके विपरीत भारत आदि लौकिक ग्रंथों का उच्चारण तो सजातीय-क्रमसहित-उच्चारण की अपेक्षा किए बिना ही (सजातीयोच्चारण की परवाह किए बिना ही) हुआ है। इसलिए उनमें 'पौरुषेयत्व' हैं। इस तरह पौरुषेय और अपौरुषेय के भेद से आगम को दो प्रकार बतला दिए हैं।

तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसर्गसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान् न तु तद्विजातीयं वेदमिति न सजातीयोच्चारण - अनपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वं

<sup>48</sup> वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद पृ १२३

<sup>49</sup> वेदान्तपरिभाषा आगमपरिच्छेद पृ ० १४५

वेदस्य। भारतादीनान्तु सजातीयोच्चारणमनपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्। एवं पौरुषेयापौरुषेयभेदेन द्विविध आगमो निरूपितः।<sup>50</sup>

## 1.8 शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता

शब्द प्रमाण कितना प्रामाणिक है ? इस प्रश्न के समाधान को न्यायदर्शन एवं मीमांसा दर्शन में पर्याप्त चर्चा हुई है। पहले न्यायदर्शन में शब्द प्रमाण का प्रामाण्य देखते हैं –

### 1.8.1 न्यायदर्शन में शब्द प्रमाण का प्रामाण्य

**पूर्वपक्ष :- तदप्रामाण्यामनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।<sup>51</sup>**

अर्थात् शब्द प्रमाण अप्रामाणिक है क्योंकि उसमें झूठ, परस्पर विरोध और पुनरुक्ति के दोष होते हैं।

**सिद्धान्तपक्ष - सिद्धान्ती एक-एक करके उत्तर देते हैं –**

**न, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्।<sup>52</sup>**

अर्थात् जो बात प्रामाणिक है, उसके करने में या उसके कर्ता में अथवा उसके करने के साधन में यदि कोई दोष हुआ, तो वह गलत हो जाती है। इसमें शब्द का कोई दोष नहीं है। जैसे ऊपर दिए आइन्स्टाइन के उदाहरण में, यदि उसकी कही बात को प्रमाणित करने वाले गलत प्रकार से माप लेते, अथवा स्वयं विषय के बारे में कम जानते अथवा उनके साधन दोषपूर्ण होते, तो वे आइन्स्टाइन सही नहीं कह रहा, इस निष्कर्ष पर पहुंचते। वास्तव में, कमी आप्त-वचन की नहीं, अपितु उनके प्रयोग की होती।

**अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्।<sup>53</sup>**

दूसरे, वचन-व्याघात इस परिस्थिति में उत्पन्न हो सकता है, जब वचन मान कर, फिर सही समय पर क्रिया को न करने पर, वचन के क्रियान्वन में दोष आता है। जैसे किसी वैज्ञानिक के वचन का सूर्यग्रहण के समय परीक्षण आवश्यक था। अब यदि सूर्यग्रहण को छोड़ कर किसी अन्य समय पर प्रयोग किया जाए, तो वह वचन को सिद्ध करने में असमर्थ ही होगा। मेरे अनुसार, यहां यह समझ लेना चाहिए कि प्रयोग के अन्य दोषों के कारण भी विरोध पाया जा सकता है, केवल कालभेद ही नहीं।

**अनुवादोपपत्तेश्च।<sup>54</sup>**

तीसरे, पुनरुक्ति का दोष इसलिए नहीं होता क्योंकि वचन की आवृत्ति अनुवाद के लिए होती है, अर्थात् सकारण होती है, निरर्थक नहीं। जैसे, आइन्स्टाइन ने एक समीकरण को दूसरे स्थान पर इस लिए पुनः कहा क्योंकि वहां पर उनको उससे एक अन्य सिद्धान्त उपपादित करना था। इस प्रकार, जहां ये दोष साधारण मनुष्यों के वचनों में अवश्य पाए जा सकते हैं, आप्त वचनों में ये

<sup>50</sup>वेदान्तपरिभाषा आगमपरिच्छेद पृ० १४५

<sup>51</sup>न्यायसूत्र २।१।५८

<sup>52</sup>न्यायसूत्र २।१।५९

<sup>53</sup>न्यायसूत्र २।१।६०

<sup>54</sup>न्यायसूत्र २।१।६१

दोष नहीं होते। इसीलिए वे सर्वमान्य होते हैं।

## 1.8.2 मीमांसा दर्शन के अनुसार शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता

मीमांसादर्शन में शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता को पाँचवे जैमिनि सूत्र में स्पष्ट किया गया है -

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे  
तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्<sup>55</sup>

अध्याहार्यः – वेदानाम्, मतः

अनुवृत्तिः – धर्मः

एकवाक्यता – नित्यः (111118तः)

अर्थात् वेदों के शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उत्पत्ति से सम्बद्ध है। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान उपदेश कहाता है और वह कभी असत्य अथवा व्यभिचारी नहीं होता। बादरायण ऋषि (जैमिनि के समकालीन अन्य दर्शनाचार्य) मानते हैं (जिसे जैमिनि भी पुरस्सर कर रहे हैं) कि यह प्रमाण उस अर्थ का प्रमाण होता है जो प्रत्यक्ष (या अनुमान से) उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि इस प्रमाण में अर्थ के उपलब्ध होने की अपेक्षा नहीं है।

इस वाक्य में 'औत्पत्तिकः' का 'मानव सृष्टि की उत्पत्ति' अर्थात् 'नित्यता' अर्थ है, जो कि 111118 सूत्र से अनुवर्तित है। यह सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन हुआ। अब प्रतिपक्षी विभिन्न युक्तियों से इसका खण्डन करने की चेष्टा करता है, जिनमें से कुछ युक्तियाँ हमारे सन्देहों को भी निरूपित कर सकती हैं ! क्रमवार ये युक्तियाँ और इनके उत्तर इस प्रकार हैं

शब्द तो तभी सुना जाता है जब उसका उच्चारण किया जाता है। जब उसके लिए कर्म करना पड़ता है, तो वह नित्य कैसे हो सकता है ? इसपर जैमिनि समझाते हैं कि शब्द के नित्यता पक्ष में भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए कर्म अपेक्षित है। ऐसा नहीं है कि सब शब्द नित्य होने से सर्वदा इन्द्रियों के विषय बने रहते हैं। उनको व्यक्त करने के लिए प्रयत्न करना ही पड़ता है। इसलिए यह तर्क कुछ भी प्रामाणित नहीं करता।

यदि शब्द नित्य होता तो वह सदा उपस्थित रहता, परन्तु वह तो उच्चारण के बाद समाप्त हो जाता है। जैमिनि कहते हैं कि शब्द जो इन्द्रियों का विषय है, वह अवश्य ही अग्राह्य हो जाता है।

उपर्युक्त दो सूत्रों में अर्थापत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं – एक जिसका श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है और एक जो बुद्धि में, ग्रन्थों में स्थित होता है। पहला शब्द दूसरे शब्द की अभिव्यक्ति मात्र होता है और अनित्य होता है। यह तथ्य कहीं भी स्पष्टतया नहीं कहा गया है। इसीलिए सबको इस प्रकरण को समझने में कठिनाई होती है। इस बात को समझ लेने पर प्रायः सभी सन्देहों का निवारण हो जाता है।

“शब्द करता है”, इस सामान्य प्रयोग से भी यही जाना जाता है कि शब्द कर्म है, और इसलिए अनित्य है। यह संशय तो उपर्युक्त दो संशयों के समान ही है, तथापि जैमिनि बताते हैं कि कथित वाक्य से केवल प्रयोग इंगित किया जाता है, उसकी नित्य या अनित्य सत्ता नहीं।

<sup>55</sup> पूर्वमीमांसासूत्र १.१.१५

दो और उससे अधिक व्यक्ति एक ही शब्द का एकसाथ प्रयोग कर सकते हैं। यदि शब्द नित्य है, तो उसकी अभिव्यक्ति भी एक समय में एक होनी चाहिए। इससे यही जाना जा सकता है कि एक समान अनेक शब्द उत्पन्न हो रहे हैं अर्थात् शब्द अनित्य है। जैमिनि उत्तर देते हैं – जिस प्रकार सूर्य एक स्थान ही नहीं, अपितु सर्वत्र एकसाथ प्रकाश करता है, उसी प्रकार एक शब्द अनेक स्थान पर उच्चारित होता है।

वस्तुतः, इस तथ्य से तो शब्द की नित्यता ही प्रकाशित होती है, न कि अनित्यता, क्योंकि शब्द का ज्ञान सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान होने से, उसे नित्य मानना ही सही है। जैमिनि स्वयं आगे 111119 सूत्र में यह बताते हैं।

पूर्वपक्षी एक और आपत्ति सामने रखता है – शब्दों में प्रकृति व विकृति रूप देखे जाने से भी शब्द को नित्य नहीं माना जा सकता। सन्धि, समास, आदि, में शब्दों के पूर्वरूप में परिवर्तन आ जाता है, जैसे 'सत् + जन' मिलकर 'सज्जन' बन जाता है। यह आपत्ति अनेकों ग्रन्थों में देखने को मिलती है, जैसे न्यायदर्शना प्रतीत होता है कि यह अकाट्य युक्ति है। तथापि जो आगे जैमिनि कहते हैं, वही अन्यों ने भी कहा है कि – यहां दूसरा वर्ण आकर बैठ जाता है, पूर्व वर्ण का विकार नहीं होता।

हमारे मुख, ओष्ठ, आदि, उच्चारण-तन्त्रों की बनावट के कारण, कुछ वर्णसमूह बोलने में कठिन होते हैं, कुछ असम्भव ही। जैसे – कन्प का उच्चारण कठिन है, परन्तु कम्प का सरल; और ज्म का असम्भवप्राय है। प्रयोग की सुविधा के लिए वर्णों में अन्तर कर दिया जाता है, नहीं तो शब्द तो वही रहते हैं और उनके अर्थ भी।

अन्त में पूर्वपक्षी कहता है – शब्द में वृद्धि भी होती है जब बहुत जन उसको एकसाथ उच्चारते हैं। यहां 'शब्द' से 'ध्वनि' का ग्रहण किया गया है, जो भी 'शब्द' का एक अर्थ है। जैमिनि बताते हैं – यह नाद में वृद्धि है, शब्द में नहीं।

पुनः यहां हम प्रयोग और निराकार शब्द की सत्ता में भ्रान्ति पाते हैं। इसलिए इस भ्रान्ति का अपने मन से पूर्णतया निवारण करना हमारे लिए भी बहुत आवश्यक है।

पूर्वपक्षियों के सब सन्देह दूर करने के बाद, जैमिनि अब शब्द के नित्य होने में निश्चयात्मक युक्तियां प्रस्तुत करते हैं। इनको गहनता से समझना अत्यावश्यक है –

शब्द नित्य ही हैं क्योंकि उनके अर्थ दूसरों के लिए हैं। जो श्रोता या पाठक है, उसके लिए शब्द बोले या लिखे जाते हैं। यदि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध पूर्व से वर्तमान न हो, तो शब्द किस प्रयोजन के रहेंगे ? जो एक व्यक्ति बोलेगा वह दूसरा समझ नहीं पाएगा !

परन्तु यह युक्ति तो दूसरी मानवीय भाषाओं पर भी प्रयुक्त होती है, जो कि स्पष्टतः आज हैं, कल नहीं। जैसे एक समय में पालि भाषा का बोलबाला था, आज वह कहीं भी नहीं बोली जाती। इस सन्देह का उत्तर यह है कि वेदों के विषय में सब जानते हैं कि वे पुरातन काल से वर्तमान हैं। यदि उनकी भाषा अनित्य होती, तो उसके शब्दों का अर्थों से सम्बन्ध बहुत पहले ही समाप्त हो जाता, क्योंकि अनेकों वैदिक शब्दों का प्रयोग बहुत पहले समाप्त हो गया है। जिस प्रकार सिन्धु घाटी की सभ्यता के शब्द प्रयोग के अभाव में अब नहीं समझे जाते, उसी प्रकार वैदिक शब्दों का भी लोप हो जाना चाहिए था।

फिर, ये शब्द एकसाथ सब व्यक्तियों में और सर्वदा जाने जाते हैं। जैसा हमने ऊपर देखा था, यह

तथ्य शब्द की अनित्यता स्थापित नहीं करता, अपितु उसका उल्टा स्थापित करता है, कि – शब्द व्यापक हैं व देश और काल में सीमित नहीं हैं।

जो हम कहें कि अन्य भाषाओं के लिए भी यह बात सही है, तो ऊपर दिया उत्तर यहां भी ग्रहण करना चाहिए।

व्याख्याकार इसका एक अन्य अर्थ भी करते हैं कि एक शब्द अपने सभी विषयों में एकसाथ व्यवहृत होता है, जैसे – ‘गो’ शब्द से सभी गायों का ज्ञान हो जाता है। पहले तो यह कथन सही नहीं है क्योंकि जब हम कहते हैं, “यह गाय”, तब हम एक गाय का बोध कराते हैं; तथापि यह सही है कि ‘गो’ शब्द किसी व्यक्तिविशेष को नहीं कहता, अपितु गोजाति को कहता है, और गोजाति यदि नहीं भी रहे, तब भी उसका बोध कराता रहता है। फिर भी, इस तथ्य को मानने से शब्द नित्य नहीं हो जाता ! इसलिए मुझे यह व्याख्या त्याज्य लगती है।

पुनः, जैमिनि कहते हैं कि शब्दों के प्रयोग की कोई निर्धारित संख्या नहीं है। इसलिए भी वे नित्य हैं। यह तो पूर्व कथन का कुछ भेद लगता है ! इसलिए इसको ऐसे समझना चाहिए – वैदिक शब्दों का प्रयोग कितनी भी बार हो, वे अपना अर्थ नहीं त्यागते। परमात्मा के ज्ञान के समान, वे सदा एक ही अर्थ को कहते हैं।

और तो और, वैदिक शब्दों को प्रयोग की अपेक्षा ही नहीं है ! हम पाते हैं कि जनजातियों की भाषाएं लुप्त हो जाती हैं, क्योंकि उनका प्रयोग बन्द हो जाता है। जैमिनि बताते हैं कि वेदों के साथ कभी यह सम्भव नहीं है। चाहे कोई वह भाषा बोले या न, उस भाषा का अस्तित्व बना रहेगा। आज के परिपेक्ष में भी हम कह सकते हैं कि कोई मानव वैदिक भाषा नहीं बोलता, तथापि वेदों का ज्ञान, कुछ सीमित मात्रा में ही सही, अभी भी वर्तमान है। और, इससे भी महत्त्वपूर्ण है कि कोई परिश्रम करे तो उस ज्ञान को पुनरुज्जीवित कर सकता है, जैसे महर्षि दयानन्द ने लुप्त वैदिक ज्ञान का पुनरुद्धार किया।

वैदिक शब्दों का अर्थ से जुड़ने का कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता, इसलिए ये नित्य हैं। परम्परा से हमें कहीं भी शब्दों की उत्पत्ति का कोई प्रमाण नहीं मिलता, जैसे कि हम आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति के विषय में अनुमान कर पाते हैं। अपितु हमें यही सुनने में आता है कि वेद जैसे-के-तैसे प्रकट हुए। इस प्रकार शब्दों का अर्थों के साथ संयोग न होने से, उनमें संयोग के कारण कार्यता का दोष नहीं आता। दर्शनशास्त्र हमें सदा बताते हैं कि कोई भी संयुक्त वस्तु कार्य वस्तु होगी, कारण नहीं हो सकती; और कार्य कभी नित्य नहीं होता। इसलिए शब्द व अर्थ के सम्बन्ध के संयोग की सम्भावना को दूर करना आवश्यक है।

व्याख्याकारों ने यहां वायु के संयोग-वियोग द्वारा शब्द की उत्पत्ति होने से शब्द के कार्य होने के संशय का निराकरण माना है। यहां मुझे अनेक दोष दीखते हैं – वायु का यहां कोई कथन नहीं है। सभी संशय जैमिनि ने स्पष्टतया पहले ही निरूपित कर दिए थे और उनका एक-एक करके निराकरण कर दिया था। इसलिए यहां किसी संशय की कल्पना करना कोरी कल्पना ही है ! फिर शब्द की अभिव्यक्ति में प्रयत्न का विषय पूर्व ही छेड़ दिया गया था और उसका उत्तर भी दे दिया गया था। इस व्याख्या में पुनरुक्ति ही है, कोई नई बात नहीं है। इन सब कारणों से मेरी उपर्युक्त व्याख्या, जिसमें कोई बाहर से शब्द नहीं जोड़े गए हैं, वह सही लगती है। वैदिक शब्दों की नित्यता में वह एक प्रभावी कारण भी दर्शाती है।

जैमिनि फिर कहते हैं कि वैदिक शब्द नित्य हैं क्योंकि इसका चिह्न भी दीखता है। वेदों में

परमात्मा से वेदों की उत्पत्ति के कथन को वह चिह्न माना गया है जिसकी यहां चर्चा हो रही है। परन्तु जब वैदिक शब्दों पर ही शंका करी जा रही है, तब हम उनका प्रमाण कैसे स्वीकारें ? यह तो अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाएगा ! इसलिए, मेरे अनुसार यहां अर्थ है – हम यह भी देखते हैं कि कोई वेदों के लेखक होने का दावा नहीं करता। रामायण, महाभारत, आदि, सभी प्राचीन ग्रन्थों से किसी लेखक का नाम जुड़ा होता है। वेदों में ऐसा नहीं है। यह एक चिह्न है कि वेद अपौरुषेय हैं, और इसलिए नित्य हैं।

इस प्रकार मीमांसा दर्शन में शब्द की प्रामाणिकता को सिद्ध किया गया है।

## 1.9 सारांश

इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमने शब्द प्रमाण का सांगोपांग अध्ययन किया। शब्द प्रमाण को स्वतन्त्र प्रमाण मानने के विषय में जहाँ एक और जैन, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा और वेदान्त दर्शन शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी ओर चार्वाक, वैशेषिक और बौद्ध शब्द प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं। जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक, बौद्ध आदि दार्शनिकों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे अपने और अपने विषय के जानने में संवादी होने के कारण भी प्रमाण रूप माना जाता है। उसी प्रकार स्व और अर्थ के जानने में सम्वादी होने के कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण रूप है। श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है। श्रुति से प्राप्त आप्तश्रुति है और आप्तश्रुति ही आप्तवचन या शब्दप्रमाण है। इसका तात्पर्य है कि श्रुतिवचनों को सांख्यदर्शन में शब्द प्रमाण माना गया है। अपने बोध का सम्प्रेषण करने के लिए तत्त्वज्ञानी अर्थात् यथार्थदृष्ट आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है। आप्त = जो व्यक्ति किसी विषय का जाना-माना ज्ञाता हो, और जो किसी बाह्य प्रभाव से अपने मत को झुठला नहीं सकता, ऐसे आप्त पुरुष के वचन प्रामाणिक होते हैं। और ये वचन दो प्रकार के होते हैं – दृष्ट विषयों से सम्बद्ध और अदृष्ट विषयों से सम्बद्ध। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार जिसने यथार्थ वस्तु को देखा हो वह आप्त है चाहे वह ऋषि हो आर्य हो या म्लेच्छ। मीमांसकों के मत में शब्द प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा गुरुत्वपूर्ण है। आप्त वाक्य ही शब्द है। किसी भी वाक्य के अन्तर्गत पदों के अर्थबोध से अनन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है, वह शब्द ज्ञान कहा जाता है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जिस वाक्य के तात्पर्य का विषयरूप संसर्ग, अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित न हो, तो ऐसा वाक्य प्रमाण माना जाता है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता आसत्ति (सन्निधि) और तात्पर्य- ये चार कारण माने जाते हैं।

## 1.10 पारिभाषिक शब्दावली

- **प्रमा** -अनधिगत'— ऐसा विषय जो पूर्व में ज्ञात न हुआ हो। 'अबाधित'—ऐसा विषय जो दूसरे प्रमाण से (उत्तर ज्ञान से) मिथ्या सिद्ध न होने वाला हो अर्थात् बाधित न होने वाला हो। ऐसा विषय जिस ज्ञान है वह 'प्रमा' कहा जाता है।
- **प्रमाण** - पूर्व में अज्ञात एवं अबाधित ज्ञान प्रमा कहलाता है। प्रमा (यथार्थज्ञान) का जो करण (साधन) है वह **प्रमाण** है। प्रमा (यथार्थज्ञान) के करण को प्रमाण कहते हैं।

- **श्रुतज्ञान** -ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विगमविशेष से श्रवण करना श्रुत कहा है। इनके मत से जो वाच्य अर्थ आप्तवाक्य द्वारा सुना जा चुका है, वह अपने और वाच्यार्थ को जानने वाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है।
- **शब्द** -आप्त व्यक्ति के उपदेश वचन को शब्द प्रमाण कहा जाता है। तत्त्वज्ञानी अर्थात् यथार्थद्रष्टा आप्त पुरुषों द्वारा शब्द के माध्यम से जो उपदेश किया जाता है, वह आगम प्रमाण है।
- **आप्त** -जिसने यथार्थ वस्तु को देखा हो वह आप्त है चाहे वह ऋषि हो आर्य हो या म्लेच्छ। आप्त का अर्थ है- यथार्थवक्ता (जो रागद्वेषादि से भी असत्य न बोले)।
- **वाक्य** -पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। जैसे 'गामानय' यह सुबन्त-तिडन्त पदसमूह वाक्य है।
- **पद**- कहते हैं शक्त को, अर्थात् जिसमें शक्ति होती है वह पद है। इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए इस प्रकार के ईश्वर के सङ्केत कोशक्ति कहा जाता है।
- **आकांक्षा :- पदस्य पदान्तरव्यतिरेक- प्रयुक्ताऽन्वयाऽननुभावकत्वमाकाङ्क्षा।** एक पद का दूसरे पद के अभाव से जहाँ शाब्दबोध की जनकता नहीं होती है वह आकांक्षा है।
- **योग्यता -अर्थाबाधो योग्यता।** अर्थ का बाधित नहीं होना योग्यता है। इस प्रकार आकांक्षा आदि से रहित वाक्य अप्रमाण होते हैं जैसे वहिना सिञ्चति = आग से सींचता है। यह वाक्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि यहाँ योग्यता का अभाव है। अर्थात् आग से सींचने का कार्य नहीं होने से सिंचन-योग्यता का अभाव है, अतः ऐसे वाक्य प्रमाण नहीं होते।
- **सन्निधि -पदानाम- विलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः।** अर्थात् एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध-बाध न होना। पदार्थ का बोध अवान्तर व्यापार है, और प्रत्येक पद का अपने अपने अर्थ में पूर्व से हुआ शक्तिग्रह सहकारी कारण माने गए हैं। इस सबके रहते जो शब्दज्ञान होता है, उसे 'शाब्दी प्रमा' कहा जाता है।
- **तात्पर्य** -पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है।

---

## 1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

---

1. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीयदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2009
2. श्रीवास्तव, सत्यनारायण, पातञ्जलयोगदर्शनम्, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2010
3. मिश्र आद्याप्रसाद, सांख्यकारिका, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2006
4. शर्मा, उमाशंकर, मीमांसादर्शनम् चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2010
5. भार्गव, दयानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 2009
6. मुसलगांवकर, गजाननशास्त्री, वेदान्तपरिभाषा, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, 2017

---

## 1.12 बोध प्रश्न

---

1. जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के स्वरूप की समीक्षा किजिए ?
2. सांख्य एवं योग दर्शन में शब्द प्रमाण का अन्तर स्पष्ट किजिए ?
3. न्याय दर्शन में शब्द प्रमाण एवं वाक्यार्थ ज्ञान का स्वरूप का वर्णन किजिए ?
4. मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के अन्तर्गत अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का का विवेचन किजिए?
5. वेदान्त दर्शन में के अनुसार वाक्यार्थज्ञान के सहकारीकारण – आकांक्षा योग्यता सन्निधि एवं तात्पर्य का ज्ञान पर प्रकाश डालिए ?



ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY



---

## इकाई 2 शब्द की शक्तिया

---

### इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.2 प्रस्तावना
- 2.2 दार्शनिक दृष्टि में शब्द का स्वरूप
- 2.3 अभिधा
- 2.4 लक्षणा
- 2.5 व्यञ्जना
- 2.6 तात्पर्यवृत्ति
- 2.7 वाक्यार्थबोध : आकांक्षा. योग्यता एवं सन्निधि
- 2.8 सारांश
- 2.9 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.11 बोधप्रश्न

---

### 2.0 उद्देश्य

---

प्रिय विद्यार्थी ! आप एम0 ए0 हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के तृतीय खण्ड (शब्द, उपमान एवं अन्य प्रमाण) के इकाई सं0 02 “शब्द की शक्तियाँ” का अध्ययन करने जा रहें हैं। जिसके अध्ययन से आप –

- दार्शनिक दृष्टि में शब्द का स्वरूप गूढ ज्ञान प्राप्त कर पायेंगे।
- अभिधा शब्द शक्ति क्या है ? संकेतग्रह के क्या कारण हैं ? इस तथ्य को जान पायेंगे।
- दार्शनिक दृष्टि से लक्षणा शब्द शक्तिकी क्या उपयोगिता है ? इसका ज्ञान प्राप्त कर पायेंगे।
- व्यञ्जना एवं तात्पर्यवृत्ति की समीक्षा कर पायेंगे।
- वाक्यार्थबोध में आकांक्षा. योग्यता एवं सन्निधि स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर पायेंगे।

---

### 2.2 प्रस्तावना

---

शब्द तथा अर्थ के संबंध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसको व्यापार भी कहा गया है। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है। शब्दशक्तियाँ साधन के रूप में समादृत हैं। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्दशक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं। शब्दशक्ति के बिना शब्द के अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है। शब्द तथा अर्थ के संबंध में विचार करनेवाले तत्त्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। शब्द तीन प्रकार के होते हैं - वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तथा

इनसे क्रमशः तीन प्रकार के अर्थ प्रकट होते हैं - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। इन तीनों अर्थों की प्रतीति तीन प्रकार की शक्तियों - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना द्वारा होती है। इसे अधोलिखित तालिका के आधार पर समझा जा सकता है -

शब्द	अर्थ	शब्द शक्ति
वाचक	वाच्यार्थ, मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ, संकेतार्थ	अभिधा
लक्षक	लक्ष्यार्थ	लक्षणा
व्यंजक	व्यंग्यार्थ	व्यंजना

इन शब्द की शक्तियों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में तात्पर्य वृत्ति को भी एक शब्द शक्ति के रूप स्वीकार किया गया है। पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जैसे गेहे घटः-घर में घड़ा है, इस वाक्य में गेह आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध की प्रतीति कराने की योग्यता इस वाक्य में है। इसलिये इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधाराधेयभाव सम्बन्ध का बोध श्रोता को हो जाता है।

आईए प्रस्तुत इकाई में हम इन शब्द शक्तियों को विस्तार से समझते हैं :-

## 2.2 दार्शनिक दृष्टि में शब्द का स्वरूप

सामान्यतया शब्द से ऐसे सार्थक वर्णसमुदाय को गृहीत किया जाता है, जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है। यह शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें भेरी, मृदङ्ग इत्यादि को "ध्वन्यात्मक शब्द" कहते हैं, जबकि संस्कृत इत्यादि भाषाओं के शब्दों को "वर्णात्मक शब्द" कहते हैं। ऐसे इस भेदद्वयात्मक शब्द से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्द कहलाता है -

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः ध्वन्यात्मकः वर्णात्मकश्चात्र  
ध्वन्यात्मकः भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः ॥<sup>1</sup>

### शब्द की शक्तियाँ

शब्द के सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध है इसलिये गौ शब्द के उच्चारण से श्रोता को गौ अर्थ का बोध होता है। यदि गौ शब्द के साथ सास्नादिमान् अर्थ का कोई सम्बन्ध न होता तो गौ सुनने पर अश्व का भी बोध होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। गौ शब्द को सुनकर सास्नादिमान् अर्थ का ही बोध होता है अश्व का नहीं। अतः गौ शब्द के साथ सास्नादिमान् अर्थ का सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द का कोई अर्थ अवश्य होता है। शब्द जिस सामर्थ्य से अर्थ का बोध कराता है वह सामर्थ्य ही शब्द की शक्ति कहलाता है -  
अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः ॥<sup>2</sup>

<sup>1</sup> तर्कसंग्रह गुण निरूपण पृ० 76

<sup>2</sup> तर्कसंग्रह, शब्दप्रमाण, पृ० ८२

शब्द से अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है, इस विषय पर व्याकरण न्याय वैशेषिक आदि शास्त्रों में विस्तार से विचार किया गया है। शक्तिग्रह या संकेतग्रह की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करा सकता है। इस संकेत को शक्ति या समय नाम से जाना जाता है। यह संकेत क्या है? वाच्यवाचकभाव की नियामक एक मान्यता ही समय या संकेत है। (कः पुनरयं समयः ? अभिधानाभिधेय नियमनियोगः। न्याय वार्तिक 2/1/56) अस्मात् शब्दात् अययर्थो बोद्धव्य ऐसी मान्यता ही संकेत है। गौ शब्द का वाच्य यह सास्नादिमान् पदार्थ अथवा इस सास्नादिमान् अर्थ को गौ कहते हैं यही संकेतग्रहण का स्वरूप है।

प्रचीन नैयायिकों के अनुसार ईश्वरेच्छा रूप संकेत ही शक्ति है। अर्थात् यह संकेत ईश्वर की इच्छा से हुआ है कि इस शब्द का वाचक यह अर्थ है। किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार किसी के भी द्वारा किया हुआ संकेत शक्ति है। जिस शब्द का किसी अर्थ में साक्षात् रूप से शक्तिग्रह या संकेतग्रह होता है वह उस अर्थ का वाचक कहलाता है।

### शक्तिग्रह के उपाय

शब्द की शक्ति का ग्रहण आठ साधनों से होता है। न्याय सिद्धान्तमुक्तावली में कहा गया है -

**शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।  
वाक्यस्य शेषाद् विवृते र्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥<sup>3</sup>**

ये साधन हैं- 1. व्याकरण 2. उपमान 3. कोश 4. आप्तवाक्य 5. व्यवहार 6. वाक्यशेष 7. विवृति 8. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य।

- 1. व्याकरण** - शब्दों के अर्थ का ज्ञान व्याकरण से शीघ्र और सही-सही हो जाता है। संस्कृत जैसी भाषाओं में जहाँ प्रचुर मात्रा में यौगिक शब्द हैं। व्याकरण से समास-प्रत्यय-उपसर्ग-संधि का ज्ञान अर्थ निकालने में बड़ी सहायता होती है जैसे पाठक शब्द में पठ् (पढ़ना) धातु + ण्वुल् (क्रिया करने वाला) प्रत्यय = का अर्थ होता है = पढ़ने वाला।
- 2. उपमान** - उपमान कभी-कभी बड़ों के लिए अर्थ बताना कठिन होता है क्योंकि वह प्राणी या वस्तु पूछने वाले को प्रत्यक्ष अथवा चित्रादि के माध्यम से उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में बताने वाला उस सत्ता से समीपतम परिचित वस्तु का उल्लेख करते हुए कहता है कि यह वस्तु इसके समान होती है। जैसे गाय नीलगाय जैसी होती है।
- 3. कोश** - कोश शब्दकोश तो मुख्यतया शब्दों के अर्थ/अर्थों को बताने तथा समझाने के लिए बनाए ही जाते हैं। यदि पड़ते समय पाठक के सामने कोई ऐसा शब्द आ जाता है, जिससे यह परिचित नहीं है तो सर्वप्रथम यह शब्दकोश निकाल कर अर्थ देखेगा।
- 4. आप्तवाक्य** - आप्त उस व्यक्ति को कहते हैं जिसे संबद्ध विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और जो अपने विषय का विशेषज्ञ होता है। शास्त्रों में आए शब्दों के मानक एवं प्रामाणिक परिभाषा आधारित अर्थ जानने का यह प्रमुख स्रोत है। कक्षा में अध्यापक द्वारा बताए और अन्यत्र बड़ों द्वारा बताए अर्थों को बालक इसी साधन द्वारा ग्रहण करता है।

<sup>3</sup> न्याय सिद्धान्तमुक्तावली शब्द खण्ड ८१

5. **व्यवहार** - वृद्ध व्यवहार या लोक व्यवहार। छोटा बच्चा अपने बड़ों से अथवा भाषा विशेष न समझने वाला व्यक्ति उस भाषा को बोलने वाले लोगों से अनेक प्रकार के वाक्य सुनता और तदनुसार उनकी क्रियाओं को देखता है और तब शब्दों के अर्थों का ज्ञान होता है। शक्तिग्रह के उपायों में यह प्रमुखतम है। अश्व नय', 'मां नय', 'अश्वम् आनय 'गाम् आनय वृद्धजन व्यवहार के प्रसिद्ध उदाहरण है। जनसाधारण जीवन भर इसी साधन से अपनी शब्दावली बढ़ाता चलता है।

6. **वाक्यशेष** - शक्तिग्रह का षष्ठ साधन है -वाक्यशेष। वाक्यशेष का अर्थ है अवशिष्ट वाक्य। किसी वाक्य का अर्थ यदि किसी अन्य वाक्य के अर्थ के समझने पर ही समझा जा सके तो उस अन्य वाक्य को वाक्यशेष कहेंगे। जैसे एक वाक्य है- 'यवमयश्चरुः।' अर्थात् चरु यवमय होता है। यहाँ यव शब्द का असन्दिग्ध अर्थ ज्ञात न होने से वाक्यार्थ का निर्णय नहीं हो पाता। आर्यों के अनुसार यव शब्द का प्रयोग दीर्घ शूक वाले धान्य (जौ) के लिये किया जाता है जबकि म्लेच्छ लोग इस शब्द का प्रयोग कड्ग अन्न के लिये करते हैं। इस प्रकार यव शब्द के अर्थ के विषय में सन्देह हो जाता है कि यव शब्द की शक्ति किस अर्थ में है। अतः यव शब्द के अर्थबोध के लिये निम्न लिखित प्राकरणिक वाक्यों की आवश्यकता है-

'अथान्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति।' " वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम्

मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः॥ "

'अर्थात् वसन्त में अन्य ओषधियाँ म्लान हो जाती हैं किन्तु यव प्रसन्नता से रहते हैं।' तथा "वसन्त में समस्त धानों के पत्ते गिर जाते हैं किन्तु कर्णों से भरे हुए यव बड़ी प्रसन्न अवस्था में लहराते हैं।"

इन वाक्यों से यह निर्णय होता है कि यव का अर्थ 'जौ' है। यह ज्ञात होने पर 'यवमयश्चरुः' इस वाक्य का अर्थबोध हो जाता है। इसलिये उक्त वाक्यों को वाक्य शेष कहा जायेगा। उक्त वाक्यशेष को ही शक्तिग्रहक माना जाता है। उस वाक्यशेष से ही यव का शक्तिलभ्य अर्थ दीर्घशूक अन्नविशेष लिया जाता है।

7. **विवृति** - विवृत्ति का अर्थ है -विवरण देना अर्थात् व्याख्या देना। संस्कृत में भाष्य/ टीका आदि का बहुत प्रचलन था। साहित्यिक कृतियों पर भी टीकाएँ मिलती थीं। जिनसे अभिधा से अतिरिक्त व्यंजना, तात्पर्या आदि को स्पष्ट किया जाता है, साहित्यिक विशेषताओं को उद्घाटित किया जाता है और कथ्य के ज्ञानमीमासा- परक पक्षों पर प्रकाश डाला जाता है। विवृत्ति द्वारा शब्द के अर्थ के विविध पक्षों को उदाहरण, भेद-उपभेद आदि द्वारा सम्यक् रूप से समझाया जाता है।

8. **प्रसिद्ध पद का सान्निध्य** - यह वाक्यगत साधन है। वाक्य में अनेक शब्दों में से यदि केवल दो-एक शब्दों का अर्थ नहीं आता है तो ज्ञात (सिद्ध) पदों के सामीप्य से उनका अर्थ निकाला जा सकता है। जैसे 'इस आम के पेड़ पर पिक मधुरस्वर से गान कर रही है। वाक्य में 'पिक' शब्द का अर्थ नहीं ज्ञात है, किंतु सांसारिक जानकारी से मालूम है कि आम के पेड़ पर वसंत में कोयल ही कूकती है, अतएव 'पिक' शब्द का अर्थ 'कोयल' ज्ञात हो गया।

यह शक्ति तीन प्रकार की है-1.अभिधा 2. लक्षणा और 3. व्यंजना। अभिधा लक्षणा और व्यंजना - ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनसे क्रमशः वाच्य (संकेतित), लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। इनमें व्यंजना का उपयोग काव्य में होता है। शास्त्र-ग्रंथों का प्रायः अभिधावृत्ति से ही काम चल जाता है, किन्तु कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग होता है। अभिधा से लोकप्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है, इसलिए वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहते हैं। लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय (सम्बन्ध) ठीक ठीक नहीं बैठता, तब लक्षणा का आधार लेना पड़ता है।

## 2.3 अभिधा

**अभिधा** - शब्द के तीन अर्थ होते हैं - 1. वाच्य 2. लक्ष्य और 3. व्यंग्य। साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाती है।

**स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधीयते।<sup>4</sup>**

इस अभिधा शक्ति को शक्ति शब्द से भी कहा जाता है। शक्ति और संकेत शब्दों का कहीं कहीं समान अर्थ में व्यवहार किया जाता है। 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोध्यः।' इस प्रकार की मान्यता ही संकेत है। जिससे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है वह वृत्ति अभिधा है। गौ शब्द से सास्नादिमान् साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है। यह अर्थ जिस वृत्ति से होता है। वह वृत्ति अभिधा है।

**अभिधा के भेद -**

अभिधा के निम्न तीन भेद हैं:-

**रूढ़ि**

वे शब्द जिनका अर्थ तय हो, उनमें बदलाव नहीं हो सकते उन्हें रूढ़ि कहते हैं। जैसे:- रोटी, कलम, पेड़ आदि

**योग**

दो शब्दों के जोड़ से प्राप्त एक नये अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द को योग कहते हैं। इसमें दोनो शब्दों को अलग अलग करने पर उनका एक स्वतंत्र अर्थ भी होता है। जैसे:- बैलगाड़ी, मालगाड़ी आदि।

**योगरूढ़ि**

वे योग शब्द जो समाज में अब एक विशेष अर्थ के लिए रूढ़ हो गये हैं अर्थात् उनका कोई भिन्न अर्थ हो भी फिर भी उन सबसे एक अर्थ विशेष की प्रतीति होती है। जैसे:- मुरलीधर, मधुसूदन, गोपाल आदि। यहाँ गोपाल 'गो' तथा 'पाल' के योग से निर्मित है जिसका अर्थ है गाय पालने वाला पर इसका अर्थ कृष्ण के लिए रूढ़ हो गया है।

## 2.4 लक्षणा

लक्षणात्मक वृत्ति से युक्त 'पद' को 'लाक्षणिक' कहते हैं और मुख्यार्थ का बाध होने पर प्रसिद्धि

<sup>4</sup> काव्य प्रकाश 2/8

को निमित्त मानकर अथवा किसी विशेष प्रयोजन को निमित्त मानकर जिस वृत्ति द्वारा किसी अन्य अर्थ को उपस्थापित किया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह आरोपित शब्दव्यापार होता है-

**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।  
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।<sup>5</sup>**

अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढि अथवा किसी प्रयोजनवश जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह वृत्ति लक्षणा कहलाती है। यह लक्षणा वृत्ति स्वाभाविक न होकर आरोपित (Super imposed) है।

"शक्ति" शब्द की मुख्यवृत्ति है, जबकि "लक्षणा" गौणवृत्ति। बिना शक्यार्थ के ज्ञान हुए 'लक्ष्यार्थ' का ज्ञान नहीं हो सकता। लक्षणा होती है शक्यार्थ के साथ अभिप्रेत अर्थ में होने वाला सम्बन्ध। लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ से सम्बन्ध रहता है। लाक्षणिक पद से साक्षात् रूप शब्दबोध नहीं होता, अपितु 'लाक्षणिक पद' से लक्ष्यार्थ का स्मरण मात्र होकर रह जाता है, पूरे वाक्यार्थ का बोध वाक्य के अन्यवाचक 'पद' के बल पर ही सम्पन्न हो पाता है।

लक्षणा के लक्षण में तीन हेतु कहे गये हैं जिस कारण यह अभिधा से भिन्न हो जाती है। प्रथम तो यह कि शब्द का जो तात्पर्यार्थ है वह अनुपपन्न हो जाये। दूसरा यह कि शब्द से जिस अन्य अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसका मुख्य अर्थ से सम्बन्ध होता है। तीसरा यह कि कहीं तो रूढि अथवा प्रसिद्धि के कारण शब्द से अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है और कहीं किसी विशेष प्रयोजन को ध्यान में रखकर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। यह लक्षणा शक्ति आरोपित अर्थात् कल्पित वृत्ति है स्वाभाविक नहीं। मीमांसकों के अनुसार अभिधा शब्द की स्वाभाविक शक्ति है लक्षणा अस्वाभाविक है। नैयायिकों के अनुसार अभिधा ईश्वरेच्छ से उद्भावित है तथा लक्षणा मनुष्यकल्पित है। अभिधा साक्षात् संकेतित अर्थ की कहती है अतः यह सर्वसिद्ध वृत्ति है तथा शब्द का मुख्य व्यापार है किन्तु लक्षणा अमुख्य अर्थ को कहती है अतः आरोपिता या कल्पिता वृत्ति है।

जैसे "कर्मणि कुशलः" - यह व्यक्ति कर्म में कुशल है, यहाँ कुशल शब्द की दक्ष या चतुर अर्थ लक्षणा है।

कुशल शब्द का मुख्य अर्थ है कुश या दर्भ नामक घास को लाने वाला) (कुशान् दर्भान् लाति इति कुशलः)। यह मनुष्य अपने कर्म में कुशल है, यहाँ कुशाग्राहक रूप अर्थ संगत नहीं है अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। इस असंगति का निराकरण करने के लिये यह कुशल शब्द दक्ष या चतुररूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करता है।

जैसे कुशा के पत्ते तीक्ष्ण होते हैं। वे लाने वाले के हाथ को काट देते हैं अतः कुशोत्पाटन या कुशानयन के लिये एक विवेकशीलता की आवश्यकता है। वैसी ही विवेकशीलता किसी कार्य को अच्छी प्रकार करने के लिये अपेक्षित है। यही साधर्म्य सम्बन्ध है। कुशल शब्द का दक्ष या चतुर रूप लक्ष्यार्थ ही क्यों लिया जाता है? क्योंकि लोक में कुशल शब्द का दक्ष या चतुर अर्थ प्रसिद्ध है। इस प्रकार कुशल शब्द की दक्ष अर्थ में लक्षणा होती है।

प्रयोजन से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है-गंगायां घोषः-अर्थात् गंगा पर झोंपड़ी है। गंगा

शब्द का मुख्य अर्थ है- जलधारा या प्रवाह। उस पर घोष नहीं हो सकता। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। इसलिये प्रयोजन के कारण गंगाशब्द की गंगातट में लक्षणा मानी जाती है। गंगाशब्द में गंगातट का लक्षणा द्वारा बोध कराने में प्रयोजन यह है कि इससे शीतता पावनता आदि की प्रतीति होती है। क्योंकि गंगा में शीतता तथा पावनता है। यदि गंगातटे घोषः-‘गंगातीर पर घोष है’ ऐसा वाक्य प्रयोग किया जाता तो शीतता पावनता आदि की वैसी प्रतीति नहीं होती जैसी -‘गंगायां घोषः’ इस वाक्य से होती है। गंगा से दूर भी तो गंगा तीर पर घोष हो सकता है जहाँ गंगा की शीतता पावनता आदि का कोई सम्बन्ध न हो। अतः ‘गंगायां घोषः’ इस वाक्य में गंगा शब्द की गंगातीर में लक्षणा होती है।

### महावाक्य के अर्थबोध में लक्षणा शब्द शक्ति का विनियोग -

अद्वैत वेदान्त में लक्षणा शब्द शक्ति का उपयोग महावाक्य के अर्थ के ज्ञान में किया गया है। विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के ‘महावाक्यविवेक’ नामक पञ्चम प्रकरण में इन चार महावाक्यों की व्याख्या की है – (1) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० आ० 5।3) – ऋग्वेद से, (2) अहं ब्रह्मास्मि (बृहदा० 1।4।10) यजुर्वेद से, (3) तत्त्वमसि (छान्दोग्य० 6।8।7) – सामवेद से, और (4) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डुक्य० 2) अथर्ववेद से। इन चारों महावाक्यों में ‘तत्त्वमसि’ वाक्य साक्षात् उपदेशरूप होने के कारण विद्वानों के मध्य बहुत लोकप्रिय हुआ। इसलिए अधिकांश वेदान्तग्रन्थों में प्रायः इसी का व्याख्यान किया गया है।

यह “तत्त्वमसि” (छा० 6।8।9) वाक्य के तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड (निर्गुणब्रह्मरूप) अर्थ का बोधक बनता है अर्थात् इस वाक्य के अखण्ड अर्थ का ज्ञान हमें तीन सम्बन्धों द्वारा होता है। अखण्डार्थः अखण्डश्चासौ अर्थश्चेती अखण्डार्थः अर्थात् निर्गुण ब्रह्म, जो स्वगत सजातीय और विजातीय भेदों से रहित होने के कारण माया और माया के कार्यों से सर्वथा असंस्पृष्ट (सम्बन्धरहित) और निरपेक्ष है, उसे अखण्डार्थ कहते हैं। तीन सम्बन्ध हैं – (1) दोनों (‘तत्’ और ‘त्वम्’) पदों का समानाधिकरण्य, (2) दोनों पदों में, उनके वाच्यार्थों में विशेषणविशेष्यभाव, तथा (3) प्रत्यगात्मा और दोनों पदों के वाच्यार्थ में लक्ष्यलक्षणभाव। ऐसा ही (सुरेश्वराचार्य के द्वारा) कहा गया है –“(महाकाव्य के) पदों में, उनके वाच्यार्थों में, तथा उनके वाच्यार्थों और प्रत्यगात्मा में क्रमशः समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध है।

“सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥”<sup>6</sup>

यहाँ हम लक्षणा शब्द शक्ति पर विचार कर रहे हैं अतः लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध की चर्चा करेंगे -

### लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध

अभिधा लक्षणा और व्यंजना - ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनसे क्रमशः वाच्य (संकेतित), लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। इनमें व्यंजना का उपयोग काव्य में होता है। शास्त्र-ग्रंथों का प्रायः अभिधावृत्ति से ही काम चल जाता है, किन्तु कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग होता है। अभिधा से लोकप्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है, इसलिए वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहते हैं। लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय

<sup>6</sup> नैष्कर्मसिद्धि ३/३

(सम्बन्ध) ठीक ठीक नहीं बैठता, तब लक्षणा का आधार लेना पड़ता है।

'जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात् वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है –

**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।**

**अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥**

जैसे गंगायां घोषः' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अतः 'गंगा शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तट का लक्षणा से बोध कराता है।

(जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात् वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है।

जैसे गंगाया घोषः' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अतः 'गंगा शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तटका लक्षणा से बोध कराता है।

यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है – जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा।

1. जहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको लक्षणलक्षणा भी कहते हैं। उदाहरण – जैसे 'गंगायांघोषः' इस वाक्य में गंगा शब्द अपने वाच्यार्थ का पूर्णतया परित्याग करके अपने से सम्बद्ध 'गंगातट' रूप अर्थान्तर का लक्षणा बोध कराता है।
2. अजहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि (अर्थान्तरे) वृत्तिर्जहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ का विना परित्याग किए हुए वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध करानेवाली वृत्ति 'अजहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको उपादानलक्षणा भी कहते हैं। उदाहरण – 'शोणो धावति' अर्थात् 'लाल दौड़ रहा है'। घुड़ दौड़ के अवसर पर किसी ने पूछा 'कौनसा घोड़ा दौड़ रहा है ?' इसके उत्तर में किसी ने कहा 'लाल दौड़ रहा है' (शोणो धावति)। इस उदाहरण में शोण वर्ण जड़ होने के कारण 'धावति' क्रिया के कर्त्तारूप से वाक्यार्थ में अन्वित नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'शोण' शब्द अपने वाच्यार्थ विना परित्याग किए हुए अपने से सम्बद्ध 'शोणवर्णमाला अश्व' इस अर्थान्तर का लक्षणा से बोध कराता है।
3. जहदजहल्लक्षणा – 'वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहल्लक्षणा' अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध करानेवाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग को ग्रहण कर लिया जाता है। एक भाग का परित्याग करने से



इसको भागत्यागलक्षणा और भागमात्र को ग्रहण करने से भागलक्षणा भी कहते हैं।  
‘सोऽयं देवदत्त’ और ‘तत्त्वमसि’ इसी लक्षणा के उदहारण हैं –

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा  
विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः।  
तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-  
विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः ॥ ॥  
इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥

सोऽयं देवदत्त- इस वाक्य में ‘सः’ पद का वाच्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त है, और ‘अयम्’ पद का वाच्यार्थ वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है, ये दोनों वाच्यार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। वाच्यार्थों में विरोध होने से इनके वाचक पद भी एक दुसरे के विरुद्ध हुए। दोनों पदों में समानाधिकरण्य के कारण जो एक वाक्यार्थ प्रतीत हो रहा है, वह उन पदों में परस्पर विरोध होने के कर्ण अक तक सिद्ध नहीं हो सकता है जब तक लक्षणा के द्वारा उस विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इतना ही नहीं, दोनों पदों के वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से विशेषणविशेष्यभाव भी तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थगत विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इसलिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना अनिवार्य है। भागलक्षणा के द्वारा दोनों पदों के वाच्यार्थों में तत्कालविशिष्टत्व और एतकालविशिष्टत्वरूप जो विरुद्ध अंश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त ग्रहण कर लिया जाता है। इस उदहारण में ‘सः’ और ‘अयम्’ पद अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ विरुद्धांश रहित होकर ‘लक्षण’ या ‘लक्षक’ हैं, और अविरुद्ध देवदत्त ‘लक्ष्य’ है।

इसी प्रकार ‘तत्त्वमसि’ – इस वाक्य में भी ‘तत्’ और ‘त्वम्’ पदों में तथा इनके वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से लक्षणा के विना न तो समानाधिकरण्य के कारण प्रतीत होने वाले एक वाक्यार्थ की सिद्धि हो सकती है, और न उनमें परस्पर विशेषणविशेष्यभाव ही सिद्ध हो सकता है। लक्षणा से पारस्परिक विरोध की निवृत्ति हो जाने पर समानाधिकरण्य तथा विशेषणविशेष्यभाव भी सिद्ध हो सकता है और वाक्यार्थ भी निष्पन्न हो जाता है। भागलक्षणा के द्वारा ‘तत्’ और ‘त्वम्’ पदों तथा इनके वाच्यार्थों में परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टरूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध (अखण्ड) चैतन्य का बोध होता है। यहाँ पर ‘तत्’ और ‘त्वम्’ पद अथवा इनके वाच्यार्थ विरुद्धांश से रहित होकर ‘लक्षण’ हैं, और अखण्ड चैतन्य ‘लक्ष्य’ है। इस प्रकार पदों अथवा पदार्थों का अखण्ड चैतन्य (प्रत्यगात्मा) के साथ लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध सिद्ध होता है। अन्य वेदान्तग्रन्थों में भी ‘तत्त्वमसि’ आदि वाक्यों का अर्थ बोध भागलक्षणा के द्वारा ही माना गया है –

**तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।**

**सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥**

"जैसे 'सोऽयम्' आदि वाक्यों में स्थित पदों में भागलक्षणा (का आश्रय लिया जाता) है, कोई दूसरी (जहल्लक्षणा या अजहल्लक्षणा) नहीं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भी भागलक्षणा ही (आश्रयणीय) है, कोई दूसरा नहीं।"

वाचस्पत्यम् में भी जहदजहल्लक्षणा का निरूपण करते समय 'सोअयं देवदत्तः' को

दृष्टान्तरूप से और 'तत्त्वमसि' को दार्ष्टान्तिकरूप से प्रस्तुत किया गया है -

वाच्यार्थदेश परित्यागेन अनेकदेशवृत्तौ लक्षणायाम्। यथा सोऽयं देवदत्तः  
तत्कालैत्कालरूपार्थत्यागेन केवल देवदत्तमात्रार्थबोधनत्वाद्वाच्यार्थैकदेशवृत्तिता। एवं  
तत्त्वमसिती वाक्ये विरुद्धसर्जत्वाल्पज्ञत्वपरित्यागेन चैतन्यमात्रबोधनत्वात्तथात्वम्।

#### 4. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोध हेतु लक्षणा शब्द शक्ति की उपादेयता -

अब प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में समानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्यभाव होने पर क्यों न अभिधामात्र से ही वाक्यार्थ का बोध हो जाय ? इसमें लक्षणा आश्रय लेने की क्या आवश्यकता है ?

'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों से एक अखण्ड अर्थ (निर्विशेष चैतन्य) विवक्षित है, परन्तु अभिधा से उस अखण्ड अर्थ का बोध नहीं हो सकता है, क्योंकि अभिधा से तो दोनों पदों के परस्पर विरुद्ध वाच्यार्थ की ही प्रतीति होती है। अतः उस अखण्डार्थ के बोध के लिए लक्षणा का आश्रय लेना अनिवार्य है। 'नीलमुत्पलम्' वाक्य से इसका भेद इसलिए है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है। उसमें 'नील' पद का वाच्यार्थ नीलगुण है, जो शुक्ल रक्त आदि अन्य गुणों का व्यावर्तन करता है, और 'उत्पल' पद का वाच्यार्थ उत्पलद्रव्य है, जो घट पट आदि अन्य द्रव्यों का व्यावर्तन करता है। इसलिए परस्पर गुणगुणिभाव होने से किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण पुरे वाक्य का अर्थ इनमें से कोई भी माना जा सकता है-

क) दोनों पदों के वाच्यार्थ में परस्पर विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध।

ख) एक से विशिष्ट दूसरा पदार्थ, अर्थात् 'नीलत्वविशिष्टमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलत्वविशिष्ट नीलम्'।

ग) दोनों की एकता (अभेद), अर्थात् 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलाभिन्न नीलम्'।

इन तीनों अर्थों का बोध अभिधा से ही हो जाता है, और किसी भी प्रमाण से विरोध भी नहीं दिखाई पड़ता है, अतः लक्षणा की सहायता की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है। यद्यपि 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलाभिन्न नीलम्' यह वाक्यार्थ अभीष्ट होने से दोनों में अभेद विवक्षित है, तथापि अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है, क्योंकि एक गुण है तथा दूसरा द्रव्य। अखण्डार्थ में तो द्वैत की कल्पना भी नहीं हो सकती है। जैसे 'सोऽयम् देवदत्तः' में सः' और 'अयम्' दोनों पदों से अखण्ड देवदत्त विवक्षित है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों से अखण्ड चैतन्य विवक्षित है। यहाँ पर अणुमात्र भी भेद सम्भव नहीं है।

'तत्त्वमसि' वाक्य से निर्विशेषचैतन्यरूप जो अखण्डार्थ विवक्षित है, उसकी प्रतीति अभिधा से किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है, क्योंकि अभिधासे प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ पूर्वोक्त तीन विधाओं में से ही किसी एक विधाका हो सकता है। किसी भी विधाको स्वीकार करने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। उस स्थिति में लक्षणा के द्वारा ही दोनों पदार्थों के पारस्परिक विरोध व्यावर्तन होने पर निर्विशेषचैतन्यरूप अखण्डार्थ का बोध सम्भव हो सकेगा।

'नीलमुत्पलम्' में जिस प्रकार गुणगुणिभाव है, उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थों में गुणगुणीभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में एक गुण है और दूसरा द्रव्य जबकि यहाँ पर दोनों ही द्रव्य हैं। इन दोनों में अर्थात् तत्पदार्थ एवं त्वम्पदार्थ कुण्डल और सुवर्ण के

समान कार्य- कारणभाव भी नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों ही नित्य और अतिकृत हैं। भूमि और ऊसर के समान अंशांशभाव भी नहीं है, क्योंकि दोनों ही निरवयव हैं। निष्क्रिय होने के कारण बाण आदि के समान क्रियाक्रियावद्भाव भी नहीं है। द्रव्य होने के कारण ही गोत्व और स्वस्तिमती के समान जातिव्यक्तिभाव भी नहीं है, और इसीलिए विशेषविशेषिभाव भी नहीं है। यदि इनमें से कोई भी सम्बन्ध होता, तो वाक्यार्थ संसृष्ट माना जा सकता था। परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ तो वह 'अखण्ड सत्य' है, जो स्वगत सजातीय और विजातीय भेदों में सर्वथा रहित 'विज्ञानघनमात्र' है, और शास्त्रों में 'नेति नेति' कहकर समस्त विशेषों का प्रत्याख्यान करने के द्वारा जिसे 'निर्विशेषचैतन्य' कहा गया है। इसलिए इस वाक्य से किसी भी प्रकार संसृष्टार्थ की कल्पना के लिए रञ्चमात्र भी अवकाश नहीं है।

संसर्ग:- किसी वाक्य में आए हुए पदों निर्दिष्ट पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं। यह संसर्ग दो प्रकार का होता है - भेदरूप संसर्ग और अभेदरूप संसर्ग।

भेदसंसर्ग:- जहाँ पर वाक्यगत पदों में भिन्न भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने से समानाधिकरण्य का अभाव होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ भेदसंसर्गरूप माना जाता है जैसे 'दण्डेन गां नय' (दण्डे से गाय हाँक ले जाओ) इस वाक्य के पदों में समानाधिकरण्य नहीं है, इसलिए यहाँ पर वाक्यार्थ भेदसंसर्गरूप है।

अभेदसंसर्ग:- जहाँ पर वाक्यगत पदों में समान विभक्ति का प्रयोग होने से समानाधिकरण्य होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ अभेदसंसर्गरूप अथवा विशिष्ट (विशेषणविशेष्यभावरूप) माना जाता है। जैसे 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के पदों में समानाधिकरण्य होने से वाक्यार्थ अभेदसंसर्गरूप अथवा विशिष्ट है।

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भी पदगत समानाधिकरण्य के कारण इस दूसरी विधा के ही अन्तर्गत प्रतीत होते हैं, इसलिए इनका वाक्यार्थ अभेदसंसर्गरूप अथवा विशिष्ट होना चाहिए। परन्तु ऐसा मानने में कठिनाई है, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' और 'तत्त्वमसि' से होनेवाले वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में बहुत भेद है। 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के पदार्थों में गुणगुणिभाव होने से अभेदसंसर्गरूप या विशेषणविशेष्यभावरूप वाक्यार्थ मानने में कोई अड़चन नहीं है, परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य के दोनों पदार्थों के द्रव्य रूप होने से और परस्पर विरुद्ध होने से अभेदसंसर्गरूप मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। उस स्थिति में लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थरूप से जी अखण्ड (निर्विशेष) चैतन्य का बोध होता है, वह प्रतिपादिकार्थमात्र होने से अभेदसंसर्गरूप नहीं हो सकता है -

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥”

इस श्लोक में संसर्गपद से भेदरूप संसर्ग और विशिष्टपद से अभेदरूप संसर्ग अर्थात् दोनों प्रकार के संसर्ग का वाक्यार्थरूप से निषेध किया गया है। इस श्लोक पर रामकृष्ण की व्याख्या दृष्टव्य है—

वाक्यार्थैकदेशत्यागेनैकदेशवृत्तौ लक्षणायाम्। यथा सोऽयं देवदत्त इत्यत्र तत्कालैकालरूपार्थत्यागेन केवलदेवदत्तमात्रार्थबोधनत्वाद्वाक्यार्थैकदेशवृत्तित्वात्। एवं तत्त्वमसीति वाक्ये विरुद्धसर्वज्ञत्वाल्लक्षणार्थत्यागेन चैतन्यमात्रबोधनात्तथात्वम्।

तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थबोध हेतु भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) की अनिवार्यता

महावाक्य का अर्थबोध अभिधामात्र से नहीं हो सकता है, प्रत्युत लक्षणा का आश्रय लेना अनिवार्य है, इसका निरूपण किया गया। अब पूर्वोक्त तीन प्रकार की लक्षणा में भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) से ही महावाक्य का अर्थबोध सम्भव है।

### लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध

**अभिधा लक्षणा और व्यंजना** - ये तीन शक्तियाँ शब्द की मानी जाती हैं। इनसे क्रमशः वाच्य (संकेतित), लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ का बोध होता है। इनमें व्यंजना का उपयोग काव्य में होता है। शास्त्र-ग्रंथों का प्रायः अभिधावृत्ति से ही काम चल जाता है, किन्तु कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग होता है। अभिधा से लोकप्रसिद्ध मुख्य अर्थ का बोध होता है, इसलिए वाच्यार्थ को मुख्यार्थ भी कहते हैं। लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय (सम्बन्ध) ठीक ठीक नहीं बैठता, तब लक्षणा का आधार लेना पड़ता है।

'जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात् वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है -

**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।**

**अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।।<sup>7</sup>**

जैसे गंगायां घोषः' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अतः 'गंगा' शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तट का लक्षणा से बोध कराता है।

(जब अभिधा से प्रतीत होने वाले मुख्यार्थ का बाध हो, अर्थात् वाक्य में उसकी संगति न बैठे, तो रूढि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन को सूचित करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शब्द में आरोपित (कल्पित) होने वाली शक्ति है।

जैसे गंगाया घोषः' (गंगा में अहीरों का गाँव है) इस वाक्य में 'गंगाया' का मुख्य अर्थ है 'गंगा की धारा में'। उसमें गाँव का होना असम्भव है। अतः 'गंगा' शब्द, मुख्यार्थ अन्वय बाधित होने से, मुख्यार्थ को छोड़कर अपने से सम्बद्ध तटका लक्षणा से बोध कराता है )

यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है - **जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा।**

**जहल्लक्षणा - 'वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा'<sup>8</sup>**

अर्थात् वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको लक्षणलक्षणा भी कहते हैं। उदहारण - जैसे 'गंगायांघोषः' इस वाक्य में गंगा शब्द अपने वाच्यार्थ का पूर्णतया परित्याग करके अपने

<sup>7</sup> काव्यप्रकाश, ९.

<sup>8</sup> विद्वन्मनोरंजिनी, १२५

से सम्बद्ध 'गंगातट' रूप अर्थान्तर का लक्षणा बोध कराता हैं।

**अजहल्लक्षणा** – 'वाच्यार्थपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि (अर्थान्तरे) वृत्तिरजहल्लक्षणा'<sup>9</sup>  
अर्थात् वाच्यार्थ का विना परित्याग किए हुए वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्था का बोध करानेवाली वृत्ति 'अजहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको उपादानलक्षणा भी कहते हैं। उदाहारण – 'शोणो धावति' अर्थात् 'लाल दौड़ रहा है'। घुड़ दौड़ के अवसर पर किसी ने पूछा 'कौनसा घोड़ा दौड़ रहा है?' इसके उत्तर में किसी ने कहा 'लाल दौड़ रहा है' (शोणो धावति)। इस उदाहारण में शोण वर्ण जड़ होने के कारण 'धावति' क्रिया के कर्त्तारूप से वाक्यार्थ में अन्वित नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'शोण' शब्द अपने वाच्यार्थ विना परित्याग किए हुए अपने से सम्बद्ध 'शोणवर्णमाला अश्व' इस अर्थान्तर का लक्षणा से बोध कराता है।

**जहदजहल्लक्षणा** – 'वाच्यार्थेकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहल्लक्षणा'<sup>10</sup> अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध करानेवाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग को ग्रहण कर लिया जाता है। एक भाग का परित्याग करने से इसको भागत्यागलक्षणा और भागमात्र को ग्रहण करने से भागलक्षणा भी कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्त' और 'तत्त्वमसि' इसी लक्षणा के उदाहारण हैं –

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा

विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः।

तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादि-

विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः ॥ ॥

इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥<sup>11</sup>

**सोऽयं देवदत्त-** इस वाक्य में 'सः' पद का वाच्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त है, और 'अयम्' पद का वाच्यार्थ वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है, ये दोनों वाच्यार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। वाच्यार्थों में विरोध होने से इनके वाचक पद भी एक दुसरे के विरुद्ध हुए। दोनों पदों में समानाधिकरण्य के कारण जो एक वाक्यार्थ प्रतीत हो रहा है, वह उन पदों में परस्पर विरोध होने के कर्ण अक तक सिद्ध नहीं हो सकता है जब तक लक्षणा के द्वारा उस विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इतना ही नहीं, दोनों पदों के वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से विशेषणविशेषभास्य भी तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थगत विरोध की निवृत्ति न हो जाय। इसलिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना अनिवार्य है। भागलक्षणा के द्वारा दोनों पदों के वाच्यार्थों में तत्कालविशिष्टत्व और एतकालविशिष्टत्वरूप जो विरुद्ध अंश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त ग्रहण कर लिया जाता है। इस उदाहारण में 'सः' और 'अयम्' पद अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ विरुद्धांश रहित होकर 'लक्षण' या 'लक्षक' हैं, और अविरुद्ध देवदत्त 'लक्ष्य' है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' – इस वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों में तथा इनके वाच्यार्थों में

<sup>9</sup> विद्वन्मनोरंजिनी, पूर्ववत्.

<sup>10</sup> विद्वन्मनोरंजिनी, पृ० १२७.

<sup>11</sup> वेदान्तसार, पृ० १२७

परस्पर विरोध होने से लक्षणा के बिना न तो समानाधिकरण्य के कारण प्रतीत होने वाले एक वाक्यार्थ की सिद्धि हो सकती है, और न उनमें परस्पर विशेषणविशेष्यभाव ही सिद्ध हो सकता है। लक्षणा से पारस्परिक विरोध की निवृत्ति हो जाने पर समानाधिकरण्य तथा विशेषणविशेष्यभाव भी सिद्ध हो सकता है और वाक्यार्थ भी निष्पन्न हो जाता है। भागलक्षणा के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों तथा इनके वाच्यार्थों में परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टरूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध (अखण्ड) चैतन्य का बोध होता है। यहाँ पर 'तत्' और 'त्वम्' पद अथवा इनके वाच्यार्थ विरुद्धांश से रहित होकर 'लक्षणा' हैं, और अखण्ड चैतन्य 'लक्ष्य' है। इस प्रकार पदों अथवा पदार्थों का अखण्ड चैतन्य (प्रत्यगात्मा) के साथ लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध सिद्ध होता है। अन्य वेदान्तग्रन्थों में भी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थ बोध भागलक्षणा के द्वारा ही माना गया है –

**तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।**

**सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥<sup>12</sup>**

"जैसे 'सोऽयम्' आदि वाक्यों में स्थित पदों में भागलक्षणा (का आश्रय लिया जाता) है, कोई दूसरी (जहल्लक्षणा या अजहल्लक्षणा) नहीं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में भी भागलक्षणा ही (आश्रयणीय) है, कोई दूसरा नहीं।"

वाचस्पत्यम् में भी जहदजहल्लक्षणा का निरूपण करते समय 'सोऽयं देवदत्तः' को दृष्टान्तरूप से और 'तत्त्वमसि' को दार्ष्टान्तिरूप से प्रस्तुत किया गया है –

वाच्यार्थदेश परित्यागेन अनेकदेशवृत्तौ लक्षणायाम्। यथा सोऽयं देवदत्तः तत्कालैत्कालरूपार्थत्यागेन केवल देवदत्तमात्रार्थबोधनत्वाद्वाच्यार्थैकदेशवृत्तित्वात्। एवं तत्त्वमसिती वाक्ये विरुद्धसर्जत्वाल्पज्ञत्वपरित्यागेन चैतन्यमात्रबोधनत्वात्तथात्वम्।<sup>13</sup>

## 2.5 व्यञ्जना

वाच्यार्थ की अनुपपत्ति की अपेक्षा किये बिना ही बोध कराने वाला, वाच्यार्थ से सम्बद्ध तथा असम्बद्ध दोनों ही स्थितियों में समान रूप से रहने वाला, प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के अर्थों का बोधक तथा वक्ता आदि की विशेषता के ज्ञान और प्रतिभा आदि से जागरित होने वाला संस्कारविशेष ही व्यञ्जना है। इस प्रकार अभिधा तथा लक्षणा से अजन्य जो प्रतीति है उसका जनक जो शब्दादि में रहने वाला व्यापार है वह व्यापार ही व्यञ्जना कहलाता है। जैसे 'गंगायां घोषः' में प्रयोजनवश गंगा शब्द की तीर अर्थ में लक्षणा की गयी थी। उस प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना से ही होती है। शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती क्योंकि गंगा शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ तो प्रवाह है। लक्षणा से भी शैत्यादि की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति गंगाशब्द का गंगातीर अर्थ लक्षित करके विरत हो जाती है। अतः शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यञ्जना के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यही बात विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कही है-

**लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।**

**यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया।<sup>14</sup>**

<sup>12</sup> पंचदशी ७/७४

<sup>13</sup> वाचस्पत्यम् (मथुरानाथतर्कवागीश कृत) पृ ० ४०६

<sup>14</sup> साहित्य दर्पण 2/15

इस व्यंजना को शब्दनिष्ठ व्यापारविशेष माना जाये या हृदयनिष्ठ संस्कारविशेष, इस विषय में यह कथनीय है कि वस्तुतः व्यंजना वृत्ति शब्दनिष्ठ बाद में है। पहले वह सहृदयों के हृदय में रहने वाला संस्कार है। शास्त्रीय प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति को व्यंजना व्यापार का बोध होता है जो वाच्यार्थ में वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों से भिन्न किसी व्यंग्य अर्थ का अभिव्यंजक हेतु होता है।

## 2.6 तात्पर्यवृत्ति

आकांक्षा योग्यता और सन्निधि से युक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं, उसी से अर्थबोध होता है, यह बात न्याय मीमांसा वेदान्त आदि सभी शास्त्रों को मान्य है। किन्तु विचारणीय यह है कि यह वाक्य से प्रतीत होने वाला अर्थ शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थों का समूह मात्र होता है? अथवा शब्दों के अर्थों से भिन्न कोई नवीन अर्थ होता है?

इस विषय में मीमांसक आचार्य कुमारिल भट्ट का कथन है कि शब्दों के अर्थ से भिन्न एक नवीन अर्थ वाक्यार्थ के रूप में प्रकट हुआ करता है। इसका क्रम यह है कि पद अपनी अभिधा वृत्ति से किन्हीं अर्थों को पृथक्-पृथक् प्रकट कर देते हैं। उसके पश्चात् उन अर्थों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। अर्थात् शब्दों के द्वारा अभिहित (Expressed) अर्थों का बाद में अन्वय अर्थात् परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। इस सिद्धान्त को मानने के कारण कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी अभिहितान्वयवादी कहलाते हैं –

**अभिहितानामन्वयः। अभिभावृत्त्या(शक्त्या)उपस्थापितानामर्थानां परस्परसंबन्धे।<sup>15</sup>**

इनका मत है कि पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध अथवा अन्वय ही वाक्य का अर्थ है। वह वाक्यार्थ पदार्थों से विशेष प्रकार का है, अतः पदों के द्वारा वह प्रकट नहीं होता। उसे प्रकट करने के लिये एक विशेष शक्ति या वृत्ति की उद्भावना करनी चाहिये। वही तात्पर्य वृत्ति है। उसी तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थ का बोध होता है और यह वृत्ति अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना इन तीनों वृत्तियों से भिन्न है।

प्रभाकर का मत उपर्युक्त मत से भिन्न है। प्रभाकर कहते हैं कि पदों से परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु परस्पर अन्वित अर्थात् सम्बद्ध अर्थ की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द अन्वित अर्थ का ही कथन करते हैं (अन्वितानाम् अभिधानम्)। इस सिद्धान्त को मानने के कारण प्रभाकर अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं –

**इतरान्वितस्वार्थं ज्ञानशक्तत्वेन ज्ञात पद स्वार्थान्वयानुभावकमिति वाक्यार्थएव शक्त्याऽभिधीयते इत्यन्विताभिधानवादिनः।<sup>16</sup>**

इस मत के अनुसार वाक्य का अर्थ भी वाच्यार्थ ही है। वह पदसमुदाय वाक्य का साक्षात् अर्थ है, तात्पर्यवृत्ति से प्रकट होने वाला कोई आगन्तुक अर्थ नहीं, अतः कुमारिल का मत ठीक नहीं है। इसलिये तात्पर्य वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार तात्पर्य वृत्ति के विषय में अभिहितान्वयवादियों और अन्विताभिधानवादियों का मत पृथक्-पृथक् है।

<sup>15</sup> वाचस्पत्यम् पृ ६७

<sup>16</sup> वाचस्पत्यम् पृ ६७

## वाक्यार्थबोध-अद्वैतवेदान्त का मत

शब्द एक ऐसा प्रमाण है जिसका कभी-कभी आपाततः अर्थ से तात्पर्यार्थ सर्वथा भिन्न हो जाया करता है। अतः शब्द का अर्थ करते समय यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि किसी अन्य प्रमाण से आपात अर्थ का बाध भले ही हो रहा हो किन्तु तात्पर्यार्थ का बाध नहीं होना चाहिये। ऐसी स्थिति होने पर ही वाक्य प्रमाण माना जाता है। उदाहरण के लिये इस वैदिक वाक्य को देखिये - "स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" अर्थात् उस प्रजापति ने अपने हृदय की चमड़ी को उखाड़ डाला। आपात रूप से यह अर्थ अप्रामाणिक है, क्योंकि प्रजापति ने चमड़ी को उखाड़ ही नहीं। हाँ इसके तात्पर्य अर्थ की ओर ध्यान दें तो इसका तात्पर्य पशुयाग की प्रशंसा करने मात्र में है चमड़ी उखाड़ने में नहीं। अर्थात् जिस पशुयाग के सम्पादन के लिये स्वयम् प्रजापति ने भी अपनी चमड़ी को उधेड़ डाला तो वह याग अवश्य श्रेष्ठ है उसे किया ही जाना चाहिये। ऐसा प्रशंसापरक अर्थ करने पर प्रमाणान्तर से उसका बाध नहीं होता। वेदवाक्य सर्वथा प्रामाणिक है। इसी प्रकार तात्पर्य के अनुसार शब्द का अर्थ करना पड़ता है।

तात्पर्य की सिद्धि के लिये ही लक्षणा की जाती है। यदि लक्षणा से कार्य न लिया जाये तो 'गंगायां घोषः 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'श्वेतो धावति' इत्यादि वाक्य निरर्थक और अप्रामाणिक होने लग जायेंगे। इसलिये जहाँ पर तात्पर्यार्थ सिद्ध न हो रहा हो वहाँ जहत् अजहत् एवं भागलक्षणा से तात्पर्य अर्थ को सिद्ध करना पड़ता है। अतः आकांक्षा योग्यता तथा आसत्ति के साथ तात्पर्यज्ञान को भी वाक्यार्थबोध में हेतु मानना चाहिये। ऐसा अद्वैत वेदान्तियों का मत है - वाक्यजन्ये च ज्ञाने आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणानि।<sup>17</sup>

## तात्पर्य की परिभाषा-न्याय मत

तात्पर्यज्ञान को वाक्यार्थबोध में कारण नैयायिक भी मानते हैं। तात्पर्यज्ञान होने पर ही भोजन के अवसर पर "सैन्धवमानय" इस वाक्य में सैन्धव शब्द का अर्थ लवण लिया जाता है और युद्ध के अवसर पर सैन्धव का अर्थ अश्व लिया जाता है। नैयायिकों के अनुसार तात्पर्य की परिभाषा है - "वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्"<sup>18</sup> अथवा "तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम्। तात्पर्यज्ञानञ्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः"<sup>19</sup> अर्थात् वक्ता की इच्छा को तात्पर्य कहते हैं। जहाँ वक्ता के विवक्षित अर्थ का बोध उसके द्वारा उच्चारण किये गये शब्द से होता हो तो वहाँ पर तात्पर्य का ज्ञान माना जाता है। अतः विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उच्चारण होना ही तात्पर्य है।

## तात्पर्य- अद्वैत वेदान्त का मत

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि नैयायिकों के द्वारा मान्य तात्पर्य का लक्षण दोषरहित नहीं। इसमें अव्याप्ति दोष है। क्योंकि मोनी व्यक्ति के द्वारा लिखे गये लिपिसंकेत से भी उसका तात्पर्य जान लिया जाता है। उसने विवक्षित अर्थ की प्रतीति की इच्छा से शब्द का उच्चारण तो किया नहीं, क्योंकि जब मोनी के श्लोक में उच्चरितत्व ही नहीं है तो उसमें अर्थप्रतीति की इच्छा से उच्चरितत्वरूप तात्पर्य कैसे रह सकेगा? अतः नैयायिकों के तात्पर्य के लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

<sup>17</sup> वेदान्तपरिभाषा पृ० १२५

<sup>18</sup> न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ८५

<sup>19</sup> तर्कसङ्ग्रहः/शब्दनिरूपणम् पृ० ८७



दूसरी ओर जिसे अर्थ का ज्ञान नहीं है ऐसा बालक भी जब “भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः” इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता है तो उसके श्रवण से संस्कृतज्ञों को शाब्द बोध होता ही है। वह शाब्द बोध नहीं होना चाहिये क्योंकि उसने उस अर्थ की की इच्छा से तो उच्चारण किया नहीं। अतः वहाँ भी न्यायसम्मत तात्पर्यलक्षण की अव्याप्ति हो रही है।

यहाँ पर न्याय अपना समाधान देता है कि वह वेदमन्त्र का उच्चारण करने वाला व्यक्ति भले ही अर्थज्ञान शून्य है किन्तु सुनने वाले को ऐसा भ्रम होता है कि इसी अर्थ की प्रतीति की इच्छा से उसने उच्चारण किया है, अतः तात्पर्य का भ्रम हो जाने से अर्थज्ञान शून्य व्यक्ति के द्वारा उच्चारण किये गये वेदमन्त्र का ज्ञान हो जायेगा।

अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि नैयायिकों का उक्त कथन उचित नहीं। क्योंकि एक अध्यापक पद और पदार्थ के ज्ञान से व्युत्पन्न नहीं है, किन्तु अध्यापन काल व्युत्पन्न छात्र तथा तटस्थ व्यक्ति उसकी अव्युत्पन्नता को भी समझता है और साथ ही उसके द्वारा उच्चारित वेदमन्त्र के अर्थ को भी समझता है। वहाँ पर तो तात्पर्य के भ्रम से शाब्दबोध हुआ नहीं। अतः न्यायसम्मत तात्पर्य लक्षण यहाँ भी अव्याप्त है।

न्याय पुनः कहता है कि अव्युत्पन्न अध्यापक का तात्पर्य वहाँ भले ही न हो किन्तु ईश्वरीय तात्पर्य तो वहाँ है ही। तात्पर्य ज्ञान से ही सर्वत्र शाब्द बोध होता है। अतः चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति हो अथवा अव्युत्पन्न अध्यापक हो, सर्वत्र ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान से ही शाब्दबोध हो जायेगा।

किन्तु न्याय का उक्त समाधान भी दोषरहित नहीं है। क्योंकि जो लोग ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उन्हें भी वैदिक तथा लौकिक वाक्यों के श्रवण से वाक्यार्थज्ञान होता है। वहाँ पर अर्थज्ञानशून्य पुरुष से उच्चारण किये गये वेदवाक्य में न तो उक्ता का ही तात्पर्य है न ही ईश्वरीय तात्पर्य है फिर भी व्युत्पन्न श्रोता को वाक्यार्थबोध होता ही है। अतः नैयायिकों का उक्त तात्पर्यलक्षण असंगत है।

### तात्पर्य का निर्दुष्ट लक्षण

अद्वैतवेदान्ती आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र तात्पर्य का लक्षण करते हैं- **तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्**<sup>20</sup>

अर्थात् पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जैसे गेहे घटः- घर में घड़ा है, इस वाक्य में गेह आधार है और घट आधेय है। इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध बतलाना इष्ट है और ऐसे सम्बन्ध की प्रतीति कराने की योग्यता इस वाक्य में है। इसलिये इस वाक्य को सुनते ही गेह और घट के आधाराधेयभाव सम्बन्ध का बोध श्रोता को हो जाता है। इसलिये चाहे अर्थज्ञानशून्य व्यक्ति भी वेदमन्त्र का उच्चारण करे फिर भी उस मन्त्र में पदार्थों के संसर्गजनन योग्यता रूप तात्पर्य के होने से श्रोता को शाब्द बोध हो जाता है। अव्युत्पन्न अध्यापक के द्वारा उच्चारण किये गये वाक्य में भी विवक्षित पदार्थ के संसर्ग की प्रतीति जनन योग्यता विद्यमान रहने के कारण ही व्युत्पन्न छात्र एवं तटस्थ व्यक्ति को शाब्दबोध हो जाता है। जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उनको भी उक्त योग्यता के कारण ही शाब्दबोध होता है, क्योंकि वह योग्यता रूप तात्पर्य शब्द में रहने वाला धर्म है। वह

<sup>20</sup> वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद पृ १२३

तात्पर्य वक्ता के अधीन नहीं है जैसा कि न्याय ने स्वीकार किया है- वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्। इसलिये जो वाक्य जिस पदार्थ के संसर्गप्रतीतिजनन में समर्थ है वह वाक्य तत्परक होता है। अर्थात् उस वाक्य से उसी अर्थ का बोध होता है। उससे अन्य का नहीं। जैसे 'गेहे घटः' यह वाक्य गेह और घट के संसर्गबोधन में समर्थ है गेह और घट के संसर्गबोधक में नहीं।

## 2.7 वाक्यार्थबोध : आकांक्षा. योग्यता एवं सन्निधि

**वाक्यार्थबोध** -जो शब्द अभिधा लक्षणा अथवा व्यंजना वृत्ति से किसी अर्थ को प्रकट करता है वही सार्थक पद है (शक्तं पदम्)। अर्थात् सार्थक वर्णसमूह का नाम पद है तथा पदों के समूह का नाम वाक्य है- (पदसमूहो वाक्यम्)। किन्तु केवल शब्दों का या पदों का समूहमात्र सम्यक् अर्थबोध में समर्थ नहीं होता है अपितु आकांक्षा योग्यता और सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर उचित रूप से अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। इन आकांक्षा आदि के स्वरूप का अनेक आचार्यों ने प्रतिपादन किया है।

### आकांक्षा

सम्यक् अर्थबोध के लिये यह आवश्यक है कि पदों में परस्पर आकांक्षा हो। यह आकांक्षा क्या है? तर्क संग्रह में आकांक्षा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा।<sup>21</sup> अर्थात् जब वक्ता किसी पद का उच्चारण करता है अथवा श्रोता उसका श्रवण करता है तो एक गाम् आदि पद के पश्चात् दूसरे आनय पद की विवक्षा या जिज्ञासा होती है यह अर्थबोधसम्बन्धी आकांक्षा वास्तव में मानवहृदय में होती है किन्तु एक शब्द का दूसरे के बिना अन्वयबोध कराने का असामर्थ्य शब्दों में पारस्परिक आकांक्षा कही जाती है। जैसे 'जलेन सिञ्चति' यहाँ 'जलेन' शब्द के श्रवणानन्तर आकांक्षा होती है-कः ? केन? अतः यहाँ दोनों पद एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं अतः साकांक्ष हैं तथा इनसे सम्यक् अर्थबोध होता है। आकांक्षा के बिना शब्दसमूह वाक्य नहीं कहला सकता, और न उससे सम्यक् अर्थबोध हो सकता है। जैसे गौः, अश्वः पुरुषो हस्ती इत्यादि पदसमूह से कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता।

### योग्यता

**योग्यता च तात्पर्यविषयसंसर्गाबाधः।**

**वह्निना सिञ्चेदित्यादौ तादृशसंसर्गबाधान्नातिव्याप्तिः।<sup>22</sup>**

सम्यक् अर्थबोध के लिये पदों में परस्पर अन्वय की योग्यता होनी चाहिये। योग्यता का अर्थ है- पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा न होना (अर्थात् बाधो योग्यता)। जैसे- 'जलेन सिञ्चति' इस वाक्य में प्रयुक्त जल पद के अर्थ में अर्थात् जलरूप वस्तु में सींचने की योग्यता है। इसी कारण से इस वाक्य से सम्यक् अर्थबोध होता है। योग्यता के बिना कोई शब्दसमुदाय प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि उससे सम्यक् अर्थबोध नहीं होता। जैसे 'अग्निना सिञ्चति' यह पदसमूह प्रामाणिक नहीं, क्योंकि अग्नि का कार्य जलाना पकाना आदि है। सेचन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः अग्नि और सेचन के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा पड़ती है।

<sup>21</sup> वेदान्तपरिभाषा आगम परिच्छेद १२३

<sup>22</sup> वेदान्तपरिभाषा आगम परिच्छेद १२४

## सन्निधि

आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्यपदार्थोपस्थितिः।<sup>23</sup>

साकांक्ष पदों का एक बुद्धि का विषय होना सन्निधि है। आकांक्षा पदों की निधि के लिये या आसत्ति के लिये उनके मध्य में अर्थबोध में बाधा उपस्थित करने ले अन्य पद नहीं होने चाहिये तथा उन पदों का अविलम्ब उच्चारण होना चाहिये। जैसे 'जलेन सिञ्चति' ये दोनों पद पारस्परिक सान्निध्य होने पर ही सम्यक् अर्थबोध कराते हैं। सन्निधि के अभाव में पदसमुदाय प्रामाणिक नहीं होता। वह सम्यक् अर्थबोध नहीं कराता जैसे- 'पर्वतः खादति अग्निमान् देवदत्तः।

यहाँ पर्वत तथा अग्निमान् के बीच में अर्थबोध में बाधा डालने वाले पद 'खादति' का प्रयोग है। अतः सन्निधिरहित होने से यह शब्दसमूह सम्यक् अर्थबोध नहीं कराता। इसी प्रकार यदि कोई 'गाम्' कहने के घंटो या दिनों के पश्चात् 'आनय' शब्द का उच्चारण करे तो यह शब्दसमूह सन्निधिरहित होने से सम्यक् अर्थबोध नहीं करा सकेगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आकांक्षा योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। उसी वाक्य से पूर्ण अर्थबोध होता है।

## 2.8 सारांश

शब्द से ऐसे सार्थक वर्णसमुदाय को गृहीत किया जाता है, जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है। यह शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक के भेद से दो प्रकार का होता है। शब्द तथा अर्थ के संबंध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसको व्यापार भी कहा गया है। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है। शब्दशक्तियाँ साधन के रूप में समादृत हैं। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्दशक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं। शब्दशक्ति के बिना शब्द के अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है। शब्द तथा अर्थ के संबंध में विचार करनेवाले तत्त्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाती है। अभिधा शक्ति से निरूपित मुख्य अर्थ को बाधित करके रूढ़ि(प्रसिद्धि) या प्रयोजन (उद्देश्य) के कारण जिस वृत्ति या शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली उस शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं। अभिधा और लक्षणा की सीमा के बाहर पड़नेवाले अर्थ को जो शक्ति व्यक्त करती है, उसे व्यंजना कहते हैं। इन शब्द की शक्तियों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में तात्पर्य वृत्ति को भी एक शब्द शक्ति के रूप स्वीकार किया गया है। पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है। जो शब्द अभिधा लक्षणा अथवा व्यंजना वृत्ति से किसी अर्थ को प्रकट करता है वही सार्थक पद है (शक्तं पदम्)। अर्थात् सार्थक वर्णसमूह का नाम पद है तथा पदों के समूह का नाम वाक्य है- (पदसमूहो वाक्यम्)। किन्तु केवल शब्दों का या पदों का समूहमात्र सम्यक् अर्थबोध में समर्थ नहीं होता है अपितु आकांक्षा योग्यता और सन्निधि होने पर ही शब्दों का परस्पर उचित रूप से अन्वय होता है और तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमने शब्द की शक्तियों का दार्शनिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित अध्ययन किया है।

<sup>23</sup> वेदान्तपरिभाषा आगम परिच्छेद पृ० १३०

## 2.9 पारिभाषिक शब्दावली

- **शब्द** - शब्द से ऐसे सार्थक वर्णसमुदाय को गृहीत किया जाता है, जो कि श्रोत्रेन्द्रिय का विषय होता है।
- **शब्दशक्ति** - शब्दशक्ति इसको व्यापार भी कहा गया है। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है।
- **अभिधा**- साक्षात् संकेतित अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में शब्द का जो मुख्य व्यापार है वह अभिधा कहलाती है।
- **लक्षणा** - अभिधा शक्ति से निरूपित मुख्य अर्थ को बाधित करके रूढ़ि(प्रसिद्धि) या प्रयोजन (उद्देश्य) के कारण जिस वृत्ति या शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली उस शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं।
- **व्यंजना** - अभिधा तथा लक्षणा से अजन्य जो प्रतीति है उसका जनक जो शब्दादि में रहने वाला व्यापार है वह व्यापार ही व्यंजना कहलाता है।
- **तात्पर्य** - तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्<sup>24</sup> अर्थात् पदार्थों के संसर्ग की प्रतीति उत्पन्न करने की योग्यता का नाम तात्पर्य है।
- **वाक्य** - सार्थक वर्णसमूह का नाम पद है तथा पदों के समूह का नाम वाक्य है- (पदसमूहो वाक्यम्)। -
- **आकांक्षा** - तत्र पदार्थानां परस्परजिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकाङ्क्षा। अर्थात् जब वक्ता किसी पद का उच्चारण करता है अथवा श्रोता उसका श्रवण करता है तो एक गाम् आदि पद के पश्चात् दूसरे आनय पद की विवक्षा या जिज्ञासा होती है यह अर्थबोधसम्बन्धी आकांक्षा वास्तव में मानवहृदय में होती है।
- **योग्यता** - योग्यता का अर्थ है-पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाधा न होना (अर्थात्बाधो योग्यता)।
- **सन्निधि** - साकांक्ष पदों का एक बुद्धि का विषय होना सन्निधि है। आकांक्षा पदों की निधि के लिये या आसत्ति के लिये उनके मध्य में अर्थबोध में बाधा उपस्थित करने ले अन्य पद नहीं होने चाहिये तथा उन पदों का अविलम्ब उच्चारण होना चाहिये।

## 2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- भार्गव, दयानन्द, तर्कसंग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012
- शास्त्री धर्मेन्द्र, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (विश्वनाथ पंचानन कृत), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2017.

- आचार्य विश्वेश्वर, काव्य प्रकाश (मम्मट कृत), ज्ञानमण्डल प्रकाशन, काशी, 2015.
- शुक्ल, बदरीनाथ, वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी टीका सहित (सदानन्द कृत), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2008
- विद्याभास्कर, रामावतार, पंचदशी (विद्यारण्य मुनि कृत), चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2009
- शास्त्री शालिग्राम, साहित्य दर्पण (विश्वनाथ कृत), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2016.
- शास्त्री, मुँसलगावकर गजानन, वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 2012.

---

## 2.11 बोध प्रश्न

---

1. शब्द की परिभाषा बताते हुए शब्द के स्वरूप का विवेचन किजिए ?
2. अभिधा शब्दशक्ति क्या है ? संकेतग्रह के क्या कारण हैं ? विवेचन किजिए ?
3. लक्षणा शब्दशक्ति किसे कहते ? लक्षणा शब्दशक्ति महावाक्य के ज्ञान में क्या उपयोगिता है ? इसका विवेचन किजिए ?
4. व्यञ्जना एवं तात्पर्यवृत्ति में क्या अन्तर है ? स्पष्ट किजिए ?
5. वाक्यार्थबोध में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए ?

ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY

---

## इकाई 3 उपमान प्रमाण की परिभाषा एवं स्वरूप

---

### इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उपमान का अर्थ
- 3.3 उपमान प्रमाण का स्वरूप
- 3.4 उपमान के भेद
- 3.5 उपमिति
- 3.6 उपमान प्रमाण की समीक्षा
- 3.7 सारांश
- 3.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.9 सहायक उपयोगी पाठ्यपुस्तकें
- 3.10 बोधप्रश्न

---

### 3.0 उद्देश्य

---

इस ईकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप निम्नलिखित विचारों को भली-भाँति समझ सकेंगे—

- प्रमाण के रूप में उपमान का क्या अर्थ है?
- उपमान प्रमाण का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य क्या है?
- उपमान प्रमाण सम्बन्धी दार्शनिक मत क्या है?
- उपमान प्रमाण तथा सादृश्यता में क्या अन्तर है?

---

### 3.1 प्रस्तावना

---

आप अक्सर गणितीय सवालों में यह पढ़ा करते हैं कि  $k=x$  और  $x=g$  तो आप यह निष्कर्ष निकालते हैं कि  $k=g$ ।  $k$  से ज्ञ तक पहुँचने में दो बातें आती हैं। एक तो  $x$  जिसका सम्बन्ध  $k$  और  $g$  से है। दूसरा  $k$  और  $x$  तथा  $g$  में सम्बन्ध बताने वाला और आप इस निष्कर्ष को सच मानते हैं। भारतीय दर्शन में निष्कर्ष प्राप्त करने की इस साधन को उपमान प्रमाण कहा गया है। उपमान प्रमाण को चार्वाक और बौद्धदर्शन को छोड़कर सभी दार्शनिक समुदाय प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। चूँकि चार्वाक विशुद्ध प्रत्यक्षवादी है। अतः वह उपमान को इसलिये नहीं स्वीकार करता कि इस प्रमाण में प्रत्यक्षकर्ता को प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। बौद्धदर्शन अपनी तत्त्वमीमांसीय दृढ़ता के कारण उपमान प्रमाण को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत ही स्वीकार करने का सुझाव देता है। भारतीय धर्मदर्शन के अन्य सभी मत, मतान्तर तथा सम्प्रदाय अपने ज्ञानपरम्परा का विस्तार उपमान प्रमाण के द्वारा करते हैं। इस ईकाई में हम आपको उपमान प्रमाण का अर्थ स्वरूप वैशिष्ट्य को बताने जा रहे हैं। इसके लिये जरूरी है कि हम सबसे पहले उपमान प्रमाण के अर्थ को जान लें।

### 3.2 उपमान का अर्थ

उपमान शब्द की निरुक्ति की जाती है— 'उपमीयते अनेनेति उपमानम्' अर्थात् जिसके द्वारा उपमिति उत्पन्न हो, उसे उपमान कहते हैं। यहां उपमीति का अर्थ है— उपमा या सादृश्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। उपमान में केवल उपमा कर देना ही जरूरी नहीं होता बल्कि उपमान प्रमाण में एक प्रसिद्ध वस्तु के द्वारा सादृश्य देकर विभिन्न दूसरी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान कराये जाने को उपमान कहते हैं। इस प्रकार से उपमान द्वारा प्राप्त ज्ञान में उपमान प्रमाण के रूप में एक असाधारण कारण के रूप में मान्य है। क्योंकि उपमान प्रमाण एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह यथार्थ होता है क्योंकि इस प्रमाण में ज्ञात वस्तु के साथ सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उपमान प्रमाण को प्रमाण के रूप में विस्तृत विवेचन न्यायदर्शन में किया गया है। अब हमलोग न्यायदर्शन में उपमान प्रमाण की विवेचना पढ़ेंगे।

**प्रश्न :** उपमान अन्य प्रमाणों से कैसे भिन्न है। इस तथ्य को जानने से पहले इस बात पर विचार कर लिया जाय कि उपमान को स्वतन्त्र उपमान माना जाय या नहीं?

**उत्तर :** आप यह पढ़ चुके हैं कि उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन में प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के साधन के रूप में एक अन्य प्रमाण को स्वीकृत किया गया है, जिसे "उपमान प्रमाण" के रूप में संबोधित किया जाता है। न्याय दर्शन के अतिरिक्त उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय है— मीमांसा और अद्वैत वेदान्त अर्थात् न्याय, मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में उपमान के स्वतंत्र प्रमाणत्व का निषेध किया गया है। यथा— चार्वाक ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है, क्योंकि चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को एकमात्र प्रमाण मानता है अन्य प्रमाणों की उपेक्षा करता है। इसी तरह जैन दार्शनिक भी उपमान की सत्ता स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नहीं मानते हैं। वैशेषिक दर्शन भी उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानता है। सांख्य दर्शन भी उपमान प्रमाण की स्वतंत्र सत्ता को नहीं स्वीकार करता है। सांख्य का मानना है कि उपमान एक प्रकार का प्रत्यक्ष है। अर्थात् उपमान प्रमाण की अपनी स्वयं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। अतः मीमांसा, न्याय और अद्वैत वेदान्त में उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अद्वैत वेदान्त ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है। इन दार्शनिकों का मानना है कि उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानना पूर्णतः न्याय-संगत है। इसका कारण यह है कि यह प्रमाण अर्थात् उपमान प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और प्रत्यभिज्ञा से पूर्णतः भिन्न है।

**प्रश्न :** उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष से कैसे भिन्न है?

**उत्तर :** आप जानते हैं कि प्रत्यक्ष का तात्पर्य वह ज्ञान जो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों के सामने रहना। यथा— नीलगाय के प्रत्यक्षीकरण के बाद यह ज्ञान तो हो सकता है कि यह एक गाय है या गाय सदृश कोई चौपाया पशु है। किन्तु उपमान प्रमाण इससे भिन्न है। उपमान प्रमाण के अनुसार— यदि नीलगाय के सम्बन्ध में पहले से जानकारी नहीं है तो उसे देख लेने के बावजूद नीलगाय की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अर्थात् उपमान प्रमाण में वस्तु या व्यक्ति के बारे में पूर्व ज्ञान का होना अनिवार्य है। अतः उपमान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मानना उचित है। क्योंकि जहां पर में केवल

इन्द्रियों एवं वस्तु के सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, किन्तु उपमान में प्रत्यक्ष के साथ पूर्व प्रत्यक्ष की स्मृति भी सम्मिलित होती है। जंगल में जब हमारा प्रत्यक्ष नीलगाय से होता है, तो गांव में देखी हुई गाय याद आती है और उसी के साथ उस व्यक्ति का कथन भी याद आता है कि नीलगाय गाय के समान होती है। उस व्यक्ति के उपमा और अपने प्रत्यक्ष के द्वारा हमें नीलगाय का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

**प्रश्न :** इन विवेचनों से इस बात की आशंका स्वाभाविक है कि उपमान और प्रत्यक्ष में तो भेद है किन्तु अनुमान और उपमान में हम भेद किस प्रकार से करते हैं?

**उत्तर :** अभी तक आपने पढ़ा कि उपमान प्रमाण के अन्तर्गत पूर्व ज्ञान के आधार पर वर्तमान ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है अर्थात् उपमान प्रमाण के अन्तर्गत सादृश्यता का सहारा लिया जाता है, जबकि अनुमान में प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अनुमान प्रमाण व्याप्ति और पक्षधर्मता के सहारे आगे बढ़ती है। आप जानते हैं कि जब दो घटनाएँ कार्यकारण के रूप में या साहचर्य के कारण हमेशा साथ साथ रहती है तो उनमें से किसी एक के प्रत्यक्ष से हम दूसरे का अनुमान करते हैं। अनुमान करने की इस प्रक्रिया में व्याप्ति की स्थापना व्यक्ति के बाहर वस्तुओं के सम्बन्ध के आधार पर विकसित होता है जबकि उन सम्बन्धों का ज्ञान मानसिक रूप से होता है। जिसे पक्षधर्मता कहा जाता है। इस प्रकार अनुमान में ज्ञाता अपने मानसिक प्रक्रिया के प्रयोग से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किन्तु उपमान की स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहां पर गाय और नीलगाय में न तो कोई कार्यकारण सम्बन्ध है और न ही साहचर्य सम्बन्ध। गाय और नीलगाय दोनों अलग अलग जीव है और अलग अलग स्थान पर पाई जाती है अतः इनमें कोई व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता। और आप जानते हैं कि बिना व्याप्ति सम्बन्ध के अनुमान प्रमाण को अनुमान प्रमाण नहीं माना जाता। अनुमान प्रमाण में सादृश्यता का अभाव पाया जाता है और उपमान प्रमाण में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का इस प्रकार उपमान का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न होता है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिये हम आपको उपमान प्रमाण के स्वरूप विवेचन को विभिन्न विद्वानों के मत के आलोक में बताने जा रहे हैं।

### 3.3 उपमान प्रमाण का स्वरूप

सभी नैयायिकों ने उपमान प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की है, केवल एकमात्र नैयायिक भासर्वज्ञ ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। महान नैयायिक एवं न्याय दर्शन के प्रतिपादक अक्षपाद गौतम ने 'न्याय-सूत्र' में लिखा है कि— "प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" (न्या०सू० 06) अर्थात् प्रसिद्ध वस्तु (जैसे गाय) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (जैसे गवय) के ज्ञान को उपमिति और उसके साधन को उपमान कहा जाता है। सम्भवतः गौतम उपमान विरोधियों के इस तर्क से परिचित थे कि 'साधर्म्य' की मात्रा निश्चित नहीं हो सकती, अतः उपमान प्रमाण नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि उपमान का आधार साधर्म्य की मात्रा या स्तर नहीं अपितु उसकी प्रसिद्धि है। (अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धि)।

गौतम के कथन का विश्लेषण करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि ज्ञात वस्तु के सामय के आधार पर ज्ञापनीय वस्तु का ज्ञान कराने वाला साधन उपमान है। उदाहरणार्थ "जिस प्रकार की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है। इस कथन में गवय का ज्ञान कराने वाला जो साधन है, वह उपमान प्रमाण कहलायेगा। इस प्रकार उपमान के द्वारा नाम और नाम वाले पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान



होता है। वात्स्यायन के कथन में संशोधन करते हुए उद्योतकर ने यह कहा कि साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य और असाधारण धर्म के द्वारा भी अमिति होती है। उत्तरवर्ती नैयायिकों ने उपमान की परिभाषा में साधर्म्य-वैधर्म्य की अपेक्षा संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध का उल्लेख किया है। वात्स्यायन ने इस सम्बन्ध को 'समाख्या-सम्बन्ध प्रतिपत्ति' कहा था।

केशव मिश्र ने तर्क भाषा (पृ0सं0 119) में कहा है कि- "अतिदिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन साध्यादिः इति अतिदेशः।" अर्थात् अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण करने के साथ ज्ञात वस्तु (गाय) के सादृश्य से युक्त अज्ञात पिण्ड (गवय) का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। अतिदेश वाक्य का अर्थ है- समानता आदि बताने वाला वाक्य। उदा० - गौ की समानता से युक्त पिण्ड के ज्ञान के पश्चात् यह पिण्ड गवय शब्द का वाच्य है- इस प्रकार जो संज्ञा (गवय शब्द) तथा संज्ञी (गवय वस्तु/पिण्ड) के सम्बन्ध की प्रतीति होती है। वह उपमिति अर्थात् उपमान का फल है।

उपमान की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं-

1. गोसदृश पशु विशेष का ज्ञान।
2. अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण। और
3. गोसादृश पशु विशेष गवय शब्द का वाच्य है।

इसमें से प्रथम दो उपमान और अन्तिम को उपमिति कहा जाता है।

### उपमान के पृथक प्रमाण के सन्दर्भ में नैयायिकों का तर्क

भारत के प्राचीनतम दार्शनिक सम्प्रदाय सांख्य के अनुसार उपमान का अन्तर्भान प्रत्यक्ष में हो जाता है। सांख्य 'तत्त्व कौमुदी' में 'वाचस्पति मिश्र' ने यह कहा है कि नीलगाय के साथ आँख (चक्षु) का सन्निकर्ष होता है जिससे कि ऐसा ज्ञान होता है कि- "नीलगाय गौ के सदृश्य है।" इस प्रकार सन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण यह प्रत्यक्ष ही है। सांख्य मत के अनुसार स्मर्यमाण 'गौ' में नीलगाय के सादृश्य का स्मरण भी प्रत्यक्ष के कारण ही है। इस प्रकार सांख्य मत उपमान को स्वतंत्र प्रमाण की मान्यता नहीं प्रदान करता है।

नैयायिक सांख्य दर्शन के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। नैयायिकों के अनुसार उपमान प्रमाण का जो फल (संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध प्रतीति) है, उसकी सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष इन्द्रिय सन्निकर्ष पर आधारित है, उसमें अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण की अपेक्षा नहीं रहती, जबकि उपमान हेतु उसकी अनिवार्य है।

नैयायिक पुनः कहते हैं कि सांख्य दर्शन के उपर्युक्त तर्क के आधार पर भी उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष से तो केवल यह ज्ञान होता है कि दृश्यमान वस्तु (यथा गवय) स्मर्यमाण वस्तु (यथा गौ) के धर्मों के सदृश धर्मों से युक्त है। अतः 'यह गवय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष पर उतना आधारित नहीं है, जितना कि आप्त व्यक्ति द्वारा कथित इस वाक्य के स्मरण पर कि 'गवय गाय के सदृश होता है। 'वरदराज' ने 'तार्किकशिक्षा' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है।

अक्षपाद गौतम ने अनुमान में उपमान के अन्तर्भाव का खण्डन किया है। गौतम के अनुसार-अनुमान द्वारा ऐसा बोध नहीं होता कि- "जैसा धूम है, वैसी अग्नि है" जबकि

उपमान से यह बोध होता है कि – “जैसी गाय है, वैसी नीलगाय है। इस प्रकार दोनों पृथक है। इस प्रकार उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

वास्तव में अनुमान व्याप्ति पर निर्भर करता है। जबकि उपमान में लिंग-लिंगी का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता है। ज्ञातव्य (गवय) और ज्ञात (गौ) के सादृश का दर्शन पहले नहीं हुआ। अनुमान उस अवस्था में होता जब यह व्याप्ति पायी जाती कि – जो-जो गौ के सदृश है, वह नीलगाय (गवय) है। किन्तु उपमान में इस प्रकार का साहचर्य नहीं पाया जाता है। अतः उपमान का अन्तर्भाव में नहीं हो सकता है।

अक्षपाद गौतम तथा अन्य नैयायिकों के अनुसार उपमान का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण के अन्तर्गत विषय के प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं होती। जबकि उपमिति के लिए गवय नामक पिण्ड का प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है। इसके साथ ही गाय के धर्मों तथा अतिदेश वाक्य का स्मरण और गाय तथा गवय के धर्मों में समानता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। जयंत भट्ट ने ‘न्याय मंजरी’ में लिखा है कि—

**सामग्रीभेदात् फलभेदाच्च प्रमाणभेदः।**

**अन्ये एव च सामग्रीफले शब्दोपमानयोः।। 1-30**

अर्थात् सामग्रीभेद और फलभेद से प्रमाण भेद होता है और उपमान तथा शब्द प्रमाण की सामग्री तथा फल अलग-अलग है। अतः उपमान प्रमाण को शब्द में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है।

कुमारिल नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि— ‘गवय’ शब्द का नीलगाय से जो सम्बन्ध है, उसका ज्ञान तो अतिदेश वाक्य से ही हो जाता है। इस प्रकार तो नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान, प्रमाण, शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं हो सकता।

नैयायिकों ने कुमारिल के इस मत का खण्डन किया है। नैयायिक यह कहते हैं कि – वस्तुतः हमें जो अनुभव होता है, वह इस प्रकार होता है कि— ‘गवय गाय के सदृश है।’ यह अनुभव नहीं होता कि— ‘गाय गवय के सदृश है।’ यदि ऐसा अनुभव होता है तो यह स्मृति का उदाहरण होगा, न कि गाय का। यदि इसको स्मृति न भी मानें तो यह अनुमान में अन्तर्भूत हो जायेगा। जिसका स्वरूप इस प्रकार होगा—

1. स्मर्यमाण गाय गवय के समान है।
2. क्योंकि गाय के अनेक अंग गवय के अंगों के समान हैं।
3. यदि एक वस्तु के अनेक अंग दूसरी वस्तु के अनेक अंगों से मिलते हों तो दोनों वस्तुओं में समानता मानी जाती है। जैसे कि जुड़वा भाइयों में।

बौद्ध मत ने भी नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपमान प्रमाण को प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत माना है। बौद्ध मत का मानना है कि जब कोई व्यक्ति गवय को देखता है तो उसे यह मालूम होता है कि दृश्यमान जीव गाय के सदृश है। इस तरह वह व्यक्ति अपन साक्षात् ज्ञान के आधार पर ही ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है कि— “गवय गाय के सदृश है।” अतः बौद्ध मतावलम्बियों के अनुसार, यह प्रत्यक्ष से भिन्ना नहीं है।

इस सन्दर्भ में नैयायिकों का यह कहना है कि “सादृश्य का कथन केवल गवय में ही नहीं, अपितु ‘गाय’ में भी होता तो यह प्रत्यक्ष होता, किन्तु गाय तो व्यक्ति (नागरिक)

के समक्ष है ही नहीं, अतः सादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। बौद्ध अपने कथन का समर्थन इस प्रकार करते हैं कि सादृश्य आंशिक रूप से नहीं रहा करता, अतः गाय का उस समय दर्शन हुए बिना भी यानी केवल गवय को देखने से भी सादृश्य का बोध हो सकता है। अतिदेश वाक्य के अभाव में भी गवय का दर्शन तो व्यक्ति कर ही सकता है।

जयंत भट्ट ने बौद्धों के उपर्युक्त तर्क का समाधान करते हुए कहा कि जैसा अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में पर्वत पर जो धूम देखा जाता है वह प्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, उसी प्रकार सादृश्य का जो प्रत्यक्ष व्यक्ति को होता है, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। क्योंकि धूम दर्शन और सादृश्य दर्शन ज्ञान प्रक्रिया के मध्यवर्ती सोपान है, वे अपने आप में लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य तो अनुमान के सन्दर्भ में पर्वत पर अग्नि का ज्ञान है और उपमान के सन्दर्भ में संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध प्रतीति।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि- जिस प्रकार अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधारित होते हुए भी प्रत्यक्ष से भिन्न है, उसी प्रकार उपमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष का सहारा लेने पर भी प्रत्यक्ष से भेद रखता है अर्थात् प्रत्यक्ष से भिन्न है। न्याय कुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने कहा है कि-

“सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।

प्रत्यक्षादेर साध्यत्वात् उपमानफलं बिदुः।।” न्या०कु० 3.8.

अर्थात् संज्ञा का संज्ञि के साथ सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। उसके लिए उपमान प्रमाण को मानना आवश्यक है। तर्क संग्रह के टीकाकार नीलकण्ठ का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि- उपमान से जो ज्ञान होता है वह सम्भावित होता है, जबकि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो ज्ञान होता है, वह निश्चित होता है।

### 3.4 उपमान प्रमाण के भेद

उपमान प्रमाण अपने स्वरूप के व्यापकता के कारण कई प्रकार से प्रमाण बनता है। इन प्रमाणों को उपमान प्रमाण के भेद के रूप में विवेचना की जाती है। उनका भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

1. **साधर्म्योपमान** : जब किसी ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर किसी ज्ञात नाम के वस्तु का ज्ञान प्राप्त करता है तो उसे साधर्म्योपमान कहते हैं। जैसे- किसी व्यक्ति ने नीलगाय का नाम किसी अनुभवी व्यक्ति द्वारा सुना है किन्तु उसने नीलगाय को देखा नहीं है। नीलगाय को देखकर यही नीलगाय है, इस बात का ज्ञान उसे साधर्म्योपमान से प्राप्त होता है।
2. **वैधर्म्योपमान** : जब किसी ज्ञात वस्तु असमानता के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है, तो वहां वैधर्म्योपमान होता है। जैसे- किसी व्यक्ति ने भैंस देखा है और उसे भैंस के आधार पर यह बताया जाय कि हाथी जैसे काले रंग की इस भैंस में क्या क्या गुण नहीं है और जब वह फिर काले रंग के हाथी को देखता है तो उस भैंस के असमानता के ज्ञान के आधार पर हाथी उसे हाथी का ज्ञान हो जाता है।
3. **धर्ममात्रोपमान** : जब किसी वस्तु के वाचकता का ज्ञान उसकी विलक्षणता अथवा विशेषताओं के आधार पर किया जाता है तो उसे धर्ममात्रोपमान कहते हैं। जैसे-

०ट को नहीं जानने वाले व्यक्ति को बताया जाता है कि उसके आस-पास पाये जाने वाले सभी जन्तुओं से ०ट विलक्षण होता है, उसकी गर्दन लम्बी होती है, वह रेगिस्तान तेज़ दौड़ता है तथा कांटों को बड़े प्रेम से खाता है। इस तरह के वाक्यों को सुना हुआ व्यक्ति जब इन विशेषताओं वाले किसी जानवर को देखता है तो उसे धर्ममात्रोपमान की संज्ञा दी जाती है।

अब उपमान के स्वरूप विवेचन के बाद उपमान से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है अर्थात् उपमिति में इसका विवेचन किया जा रहा है।

### 3.5 उपमिति

उपमिति उपमान प्रमाण द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञान को कहा जाता है अर्थात् जब हम ज्ञान के साधन के रूप में उपमान का प्रयोग करते हैं तो जो हमें ज्ञान प्राप्त होता है उसे उपमिति कहते हैं। यह न्याय परम्परा का तीसरा अनुभव आधारित ज्ञान है। वास्तव में यह सादृश्य आधारित है। उपमिति में उपमा-सादृश्य-साधर्म्य तुलना का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य के आधार पर अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति है। उपमिति के अन्तर्गत अप्रसिद्ध, अपरिचित पदार्थ को समझना अनिवार्य होता है। उपमा के द्वारा यह कार्य तभी सम्भव है, जब उपमान (जिसकी उपमा दी गई है) से वह व्यक्ति परिचित हो, जिसे उस पदार्थ या वस्तु के बारे में समझाना है। उदाहरणार्थ श्याम नाम का एक लड़का है, वह गाय के बारे में अच्छी तरह से जानना है। उसने यह भी सुना रखा है कि वन में (अन्यत्र) 'गवय' नामक एक जीव पाया जाता है, किन्तु 'गवय' के बारे में उसे सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। 'गवय' से सम्बन्धित अपनी जिज्ञासा को शांत करने हेतु वह लड़का वन की ओर प्रयाण करता है तथा वहाँ वन प्राणी विशेषज्ञ से उसकी मुलाकात होती है, श्याम उनसे 'गवय' के बारे में पूछ बैठता है कि — 'गवय' किस प्रकार का होता है? वे सज्जन उत्तर देते हैं कि—**गोसदृशः गवयः** (गाय के समान)। इस उत्तर को पारिभाषिक रूप में '**अतिदेश-वाक्य**' कहते हैं। इस उत्तर की प्रगति के पश्चात् श्याम जब कभी वन जाता है, तो उसके समक्ष गाय सदृश (समान) एक चतुरपद जीव आता है तो वह उस चतुष्पद जीव या प्राणी को देखकर 'अतिदेश-वाक्य' के अर्थ को याद करता है और निर्णय लेता है कि यह अचतुष्पद-प्राणी 'गवय' है।

'गवय' शब्द संज्ञा है और वह प्राणी संज्ञी है। इसलिए इस तथ्य को हम संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध की प्रतीति भी कह सकते हैं। संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध को ही शक्ति (संकेत) भी कहा जाता है। अतः उक्त विषय को शक्ति ज्ञान, संकेत ग्रह आदि भी कहना उचित ही है। जंगल/वन जाने के बाद श्याम को ये ज्ञान होता है — क. गोसदृश जीव का प्रत्यक्ष (गवय का और उसमें वर्तमान गोसादृश्य का प्रत्यक्ष), ख. अतिदेश-वाक्यार्थ का स्मरण और ग. संज्ञा-संज्ञी (शक्ति) का ज्ञान। इनमें अन्तिम ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सम्भव नहीं है। इस प्रकार उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानना अनिवार्य है। उपमान प्रमाण के स्वरूप विवेचन के बाद उपमान प्रमाण तथा सादृश्य और तादात्म्य के अन्तर को समझना आवश्यक है क्योंकि हमारे व्यवहार में यह तीनों शब्द एक वस्तु से दूसरे वस्तु की तुलना के लिये प्रयोग की जाती है। पहले हमें सादृश्य और तादात्म्य में अन्तर आपको बता रहे हैं—

**सादृश्य (SimilUrity) और तादात्म्य (Identity) में अन्तर :**

सादृश्य का अर्थ है कुछ अन्तर के साथ कुछ समानता या कुछ कुछ समानता के साथ

अन्तर। जबकि तादात्म्य में पूर्णतः समानता का भाव पाया जाता है, तादात्म्य अन्तर अंश मात्र भी नहीं पाया जाता है। इस प्रकार सादृश्य और तादात्म्य में अन्तर होता है।

ध्यातव्य है कि— जहाँ नैयायिक संज्ञा—संज्ञि—सम्बन्ध ज्ञान को फल मानते हैं, वहीं मीमांसक और वेदान्ती— ‘गाय गवय के सदृश है’— इस ज्ञान को फल (उपमिति) कहा है। मीमांसकों के अनुसार “यथा गौ स्तथा गवयः”— इस अतिदेश वाक्य को सुनने के बाद कोई व्यक्ति वन में जाकर गौ के सदृश पिण्ड को देखता है तो उसे विदित होता है कि मेरी गाय इस पशु के सदृश है। यही ज्ञान उपमान प्रमाण का फल है। यहाँ पर प्रभाकर और कुमारिल के उपमान सम्बन्धी मत में अन्तर है। कुमारिल सादृश्य को गुण को मानते हैं जबकि प्रभाकर सादृश्य को एक पृथक पदार्थ के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। अर्थात् सादृश्यता एक पृथक पदार्थ है।

### उपमान और पाश्चात्य दर्शन का सादृश्यानुमान :

उपमान और पाश्चात्य दर्शन के सादृश्यानुमान में आंशिक समानता है किन्तु निम्नलिखित अन्तर भी विद्यमान हैं—

1. सादृश्यानुमान का आधार केवल समानता है, जबकि उपमान में समानता के साथ-साथ असमानता और विलक्षणता भी पाया जाता है।
2. सादृश्यानुमान के द्वारा किसी वस्तु के किसी विशेष गुण या किसी विशेष भाग का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जबकि उपमान प्रमाण के द्वारा समग्र पिण्ड ही नहीं अपितु पिण्ड की विशेषता का भी बोध होता है।
3. सादृश्यानुमान द्वारा सम्भावित निष्कर्ष की प्राप्ति होती है जबकि उपमान से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है।

नैयायिकों के अनुसार उपमान प्रमाण से संज्ञा—संज्ञि—सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जबकि मीमांसकों के अनुसार—उपमान प्रमाण से ज्ञात वस्तु की समानता के आधार वस्तु का ज्ञान होता है।

**उपमान प्रमाण की उपादेयता :** उपमान प्रमाण को ज्ञान प्राप्ति का एक अलग साधन या प्रमाण माना जाय या नहीं, इस पर मतभेद होने के बावजूद उपमान प्रमाण भी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। महान दार्शनिक वात्स्यायन ने पूर्व-परिचित वस्तुओं के सादृश्य के आधार पर अनेक अपरिचित औषधियों के ज्ञान का उल्लेख किया है। जैसे— मूंग के आकार में दिखने वाला पौधा विषय दूर करने की औषधि है। ऐसा सुनने के बाद जब मनुष्य जंगल में जाकर मूंग के आकार वाला पौधा देखता है, तब उसे अतिदेश वाक्य का स्मरण होता है और वह मनुष्य निश्चय करता है कि मूंग के आकार का यह पौधा विष दूर करने वाला औषधीय पौधा है।

नैयायिकों और मीमांसकों में उपमान प्रमाण के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी उनके इस कथन में समानता है कि — उपमान की अपनी स्वयं की उपयोगिता है। अतः किसी अन्य प्रमाण से उपमान प्रमाण का कार्य नहीं चलाया जा सकता है।

### 3.6 उपमान प्रमाण की समीक्षा

भारतीय दर्शन के कुछ दार्शनिक सम्प्रदायों ने उपमान को प्रमाण का साधन नहीं माना है। इन दार्शनिक सम्प्रदायों ने उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की है। यथा— चार्वाक दर्शन ने उपमान को प्रमाण नहीं स्वीकार किया है, क्योंकि

उपमान से पदार्थ (नाम) का यथार्थ या वास्तविक ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रत्यक्ष एवं शब्द का परिवर्तित रूप मानते हैं। इसी तरह वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन ने उपमान को अनुमान का ही एक प्रकार माना है। जैन दर्शन में उपमान को प्रत्यभिज्ञा कहा गया है अर्थात् उपमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है। अद्वैत वेदांती और मीमांसक उपमान को प्रमाण तो मानते हैं, किंतु उनके उपमान विषयक विचार न्याय दर्शन के उपमान विषयक विचार से भिन्न हैं।

इस प्रकार उपमान को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में नैयायिक, मीमांसक और अद्वैत वेदांती स्वीकार करते हैं। इन तीनों दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार उपमान स्वतंत्र प्रमाण है। अतः उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द आदि प्रमाणों में नहीं किया जा सकता है। उपमान प्रत्यक्ष से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य के आधारभूत गाय का इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता है। उपमान प्रमाण अनुमान से भी भिन्न है, क्योंकि गाय एवं गवय के दो भिन्न प्रदेशों में होने के कारण उनमें किसी भी प्रकार का व्यापत्ति सम्बन्ध नहीं हो सकता है। नैयायिकों के अनुसार इसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में भी नहीं हो सकता है, क्योंकि संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध में केवल आप्त वचन (विश्वनीय व्यक्ति) ही पर्याप्त नहीं है। इसमें गवय का प्रत्यक्षीकरण तथा गाय की स्मृति भी अनिवार्य है। इस प्रकार उपमान प्रमाण का एक स्वतंत्र प्रमाण है। जिसे नैयायिक, मीमांसक एवं अद्वैत वेदांती स्वीकार करते हैं।

पिछली ईकाई में आप लोगों ने प्रमाण के बारे में अध्ययन किया। जैसा कि आप लोग जानते होंगे, भारतीय दर्शन में 'ज्ञान के साधन' को 'प्रमाण' कहा जाता है तथा ज्ञान के विषय में 'प्रमेय' के रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रमेय के अन्दर ऐसे विषयों को सम्मिलित किया जाता है जिनका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। न्याय दर्शन में ज्ञान को बुद्धि (Coguition) और उपलब्धि (Apprehension) का पर्याय माना गया है। वास्तव में न्याय दर्शन में ज्ञान बुद्धि और उपलब्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है— संकुचित अर्थ और व्यापक अर्थ। संकुचित अर्थ में यह अयथार्थ ज्ञान का सूचक है, जबकि व्यापक अर्थ में यह यथार्थ ज्ञान का सूचक है, जबकि व्यापक अर्थ में यह यथार्थ ज्ञान का बोध कराता है। उदाहरणार्थ— सायं काल में एक व्यक्ति रस्सी को देखकर रस्सी समझता है और दूसरा रस्सी को देखकर साँप समझता है। यद्यपि यहाँ ज्ञान दोनों व्यक्तियों को हो रहा है किन्तु यहाँ पर दोनों के ज्ञान में अन्तर है— एक को यथार्थ ज्ञान हो रहा है और दूसरे को अयथार्थ ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार व्यापक अर्थ में ज्ञान शब्द का प्रयोग यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान के रूप में होता है इसके विपरीत संकुचित अर्थ में ज्ञान; यथार्थ ज्ञान का ही एकमात्र बोधक है। वास्तव में न्याय दर्शन 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के रूप में ही करता है। न्याय दर्शन ज्ञान के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन बातें वर्णित करता है—

क. ज्ञान वस्तु प्रकाशक है।

ख. ज्ञान हमारे व्यवहार का आश्रय है।

ग. ज्ञान आत्मा का गुण है।

इस प्रकार न्याय दर्शन में ज्ञान का स्वरूप प्रकाशमय माना गया है। ज्ञान का वास्तविक स्वरूप किसी वस्तु को प्रकाशित करना है। यह वैसे ही है जिस प्रकार दीपक अपने समीप रखी वस्तु को प्रकाशित करता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी वस्तु को प्रकाशित करता है। 'तर्क कौमुदी' में कहा गया है कि "अर्थ प्रकाशो बुद्धिः"। वस्तु

के प्रकाश में ही ज्ञान निहित है। वास्तव में वस्तु का प्रकाशन यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान दोनों में हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि – ज्ञान का कार्य ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित करना है।

ज्ञान हमारे कार्य का आधार है। मनुष्य सही या गलत ज्ञान के आधार पर ही कार्य करता है। इसीलिए विज्ञान को सभी व्यवहार का जनक स्वीकार किया जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय दर्शन के अनुसार— ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। जो ज्ञान प्राप्त करता है वह ज्ञाता है, जो ज्ञान का विषय है वह ज्ञेय है। बिना ज्ञाता है, जो ज्ञान का विषय है, वह ज्ञेय है। बिना ज्ञाता या आत्मा के ज्ञान सम्भव नहीं है। जब आत्मा ज्ञेय (विषय) के सम्पर्क में आता है, तब ज्ञान सम्भव होता है। आत्मा (ज्ञाता) ही ज्ञान का आधार है।

इसी तरह संशय, भ्रम और तर्क को 'अप्रमा' भी कोटि में रखा गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन्हें 'अप्रमा' की कोटि में क्योंकि रखा गया है? इस प्रश्न का उत्तर विश्लेषणोपान्त ही प्राप्त होता है।

1. **संशय** : यह अनिश्चित ज्ञान है। इसमें मन में निश्चित और अनिश्चित को लेकर द्वन्द्व उत्पन्न होता है। जैसे सायं काल में सुदूर स्थित वस्तु को देखकर मन में यह द्वन्द्व उत्पन्न होता है कि यह वस्तु आदमी है या खम्भा।
2. **भ्रम (Illusion)** : यथार्थ वस्तु के 0पर अयथार्थ वस्तु का आरोपण भ्रम है अर्थात् अयथार्थ प्रत्यक्ष ही भ्रम है। जैसे 'रस्सी' को 'साँप' के रूप में देखना 'भ्रम' है।
3. **तर्क** : इसके द्वारा किसी वस्तु को परोक्ष/अप्रत्यक्ष ढंग से सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। जैसे कोई व्यक्ति दूर से 'धुआँ' को देखकर कहता है कि वहाँ आग है। जब उसका प्रतिपक्षी इसका विरोध करता है, तब वह कहता है कि 'यदि आग नहीं होती तो 'धुआँ' भी नहीं होता। इस प्रकार यह 'तर्क' कहलाता है। वास्तव में तर्क अनुभवजन्य ज्ञान नहीं है, इसलिए 'तर्क' से निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त होता है। इसीलिए 'तर्क' को अप्रमा की कोटि में रखा गया है।

'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' की अपनी कुछ विशेषतायें भी हैं तथा— प्रथम— 'प्रमा' अनुभव आधारित है अर्थात् यह अनुभवजन्य ज्ञान है जैसे— हमारे समक्ष कोई घोड़ा विद्यमान है, जिसका साक्षात् अनुभव हो रहा है, इसलिए यह प्रमा है। द्वितीय विशेषता इसका असंदिग्धत्व है अर्थात् हमें घड़े का असंदिग्ध रूप से अनुभव हो रहा है। इसलिए यह प्रमा है। तीसरी एवं महत्वपूर्ण विशेषता इसका यथार्थत्व है। अर्थात् हमें घड़े का निश्चित ज्ञान उपलब्ध हो रहा है। यही प्रमा है।

### 3.7 सारांश

अभी तक आपने उपमान प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया। उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान के बाद सर्वाधिक उपयोग में लाया जाता है। उपमान प्रमाण में सादृश्यानुभव और सादृश्यानुमान दोनों महत्वपूर्ण हैं। एक प्रमाण के रूप में उपमान प्रमाण भी अनुमान प्रमाण के समान प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होता है। अनुमान प्रमाण से किञ्चित् भेद होने के कारण भारतीय दर्शन के वस्तुवादी तथा अध्यात्मवादी दोनों प्रकार के विचारकों ने इस एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है। ज्ञात या प्रसिद्ध वस्तु की सहायता से उससे जुड़ी हुई अज्ञात और अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण का मुख्य उपयोग है। गणित, काव्य, व्याख्या तथा तत्त्वविवेचन में उपमान प्रमाण का प्रयोग

### 3.8 पारिभाषिक शब्दावली

**प्रमा :** 'यथार्थ ज्ञान' को ही 'प्रमा' कहा गया है अर्थात् वस्तु के उसी रूप में ग्रहण करना जिस रूप में वस्तु है 'प्रमा' कहलाता है। अर्थात् वस्तु को वस्तु के वास्तविक रूप में ग्रहण करना 'प्रमा' है। जैसे- घड़े को घड़े के रूप में ग्रहण करना प्रमा है या रस्सी को रस्सी के रूप में ग्रहण करना प्रमा है। अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहा जाता है। व्यावहारिक जीवन में अनुभव दो प्रकार का होता है- यथार्थ अनुभव और अयथार्थ अनुभव। यथार्थ अनुभव ही 'प्रमा' है। इसी प्रकार अयथार्थ अनुभव ही 'अप्रमा' है। इसी प्रकार पूर्व में प्राप्त ज्ञान का स्मरण 'स्मृति' है। 'अनुभव' वह ज्ञान है, जो स्मृति से भिन्न होता है। अनुभव-यथार्थ ज्ञान है।

**अप्रमा :** यथार्थ अनुभव ही प्रमा है। चूँकि 'स्मृति' का अनुभव वर्तमान में नहीं होता है, इसलिए 'स्मृति' को 'प्रमा' नहीं माना जाता है। यथार्थ अनुभव को ही प्रमा कहा गया है। इसके विपरीत अयथार्थ अनुभव को 'अप्रमा' कहा गया है। संशय, भ्रम आदि 'अप्रमा' की श्रेणी में आते हैं। जब हम किसी वस्तु में ऐसे गुणों की कल्पना करते हैं, जिस गुण का अस्तित्व वस्तु में नहीं है तब वह ज्ञान 'अप्रमा' कहलाता है। जब हम 'रस्सी' को 'साँप' समझ लेते हैं तब यह ज्ञान 'अप्रमा' है क्योंकि 'रस्सी' में वास्तव में 'साँप' का गुण अन्तर्निहित नहीं है। इसी प्रकार पीलिया रोग से ग्रसित रोगी का सफेद शंख को पीला देखना अप्रमा है जबकि इसके ठीक विपरीत उसे सफेद देखना प्रमा है अर्थात् इसके विपरीत उसे सफेद देखना प्रमा है अर्थात् व्यक्ति शंख को उसके यथार्थ रूप या वास्तविक स्वरूप में ही देख रहा है।

**नीलगाय :** एक जंगली चौपाया पशु जो गाय और घोड़े का मिश्रित रूप में दिखता है। उसे नीलगाय कहते हैं।

**न्यायमंजरी :** न्यायदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके लेखक जयंतभट्ट है, जिनका जन्म काश्मीर में हुआ था।

**प्रमाता (Knower) :** ज्ञान प्राप्त करने वाले को 'प्रमाता' कहते हैं। प्रमा की उत्पत्ति के लिए किसी चेतन मनुष्य का रहना अति आवश्यक है। इस प्रकार प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कोई ज्ञान प्राप्त करने वाला होगा।

**प्रमेय (Objects of Knowledge) :** ज्ञान के विषय को ही प्रमेय कहा जाता है। ज्ञान सदैव किसी न किसी विषय का ही होता है। प्रमाता को शून्य का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाता को ज्ञान की अनुभूति तभी हो सकती है, जब कोई न कोई विषय उपस्थित हो। अर्थात् ज्ञान की सार्थकता के लिए कुछ विषय का रहना अनिवार्य है।

**प्रमाण (Sources of Knowledge) :** ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमाता और प्रमेय के रहने के बावजूद ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक ज्ञान का कोई साधन न हो। वास्तव में ज्ञान का साधन ही प्रमाण है।

### 3.9 संस्तुत पुस्तकें

1. चक्रधर विजलवान, न्यायदर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखन0, 1999
2. हीरालाल आर शिवहरे, पदार्थ विज्ञान, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी



3. डी.एम. दत्ता, 'सिक्स वे ऑफ नोईंग'

---

### 3.10 बोधप्रश्न

---

1. उपमान प्रमाण के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. उपमान प्रमाण का समीक्षात्मक विश्लेषण कीजिए।
3. उपमान प्रमाण को मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों के दृष्टिकोण को रेखांकित कीजिए।
4. नैयायिक एवं मीमांसकों की दृष्टि से उपमान प्रमाण का वर्णन कीजिए।
5. उपमान प्रमाण और पाश्चात्य सादृश्यानुमान को स्पष्ट करें।
6. उपमान प्रमाण की उपादेयता को दर्शाइये।
7. उपमान प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से कैसे भिन्न है, वर्णन कीजिए।



---

## इकाई 4 अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाण की परिभाषा एवं स्वरूप

---

### इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 अर्थापत्ति का अर्थ एवं स्वरूप
- 4.3 अर्थापत्ति के भेद
- 4.4 अर्थापत्ति की उपादेयता
- 4.5 अनुपलब्धि का अर्थ एवं स्वरूप
- 4.6 अनुपलब्धि की उपादेयता
- 4.7 सारांश
- 4.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.9 संस्तुत पुस्तकें
- 4.10 बोधप्रश्न

---

### 4.0 उद्देश्य

---

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् हम लोग यह जान सकेंगे

- अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में जान सकेंगे।
- अनुपलब्धि का अर्थ, परिभाषा एवं स्वरूप को जान सकेंगे।
- अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि की स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार्यता तथा उसके प्रमाणत्व एवं विश्लेषण एवं उपादेयता को जान सकेंगे।
- भारतीय प्रमाण विवेचन में अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में महत्त्व को समझ सकेंगे।

---

### 4.1 प्रस्तावना

---

भारती प्रमाण व्यवस्था में वेदान्त और मीमांसा दर्शन में न्याय द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण के अतिरिक्त दो और प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। जिसे अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि कहते हैं। इसका संक्षिप्त विवेचन उपरोक्त बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया है। इस ईकाई का समग्र अध्ययन एवं विश्लेषण अग्रांकित है।

---

### 4.2 अर्थापत्ति का अर्थ एवं स्वरूप

---

सर्वप्रथम यह जानना अनिवार्य है कि— अर्थापत्ति का शाब्दिक अर्थ क्या है? इस शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई है? अर्थापत्ति शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती हैं। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार— अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् अर्थात् अर्थ की आपत्ति जिससे हो, वह अर्थापत्ति है। इसके अनुसार अर्थापत्ति प्रमाण है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार— अर्थस्य

आपत्ति: अर्थापत्ति: अर्थात् अर्थ की आपत्ति अर्थापत्ति है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थापत्ति को प्रमा माना जाय या प्रमाण माना जाय परन्तु इससे एक विशेष प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् अर्थापत्ति से विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। विशिष्ट ज्ञान ही विशिष्ट प्रमा है। विशिष्ट ज्ञान को उदाहरण से समझा जा सकता है। “पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते” अर्थात् देवदत्त मोटा है परन्तु दिन में भोजन नहीं करता। अतः वह रात में भोजन करता है। यदि देवदत्त दिन में निराहार रहता है, तो वह रात में आहार (भोजन) अवश्य ग्रहण करता है अन्यथा वह मोटा नहीं हो सकता। इस प्रकार मोटे देवदत्त की व्याख्या रात में भोजन के कारण ही सम्भव है।

अर्थापत्ति के दो भाग किये गये हैं— 1. उपपाद्य और 2. उपपादक। उपरोक्त उदाहरण में देवदत्त का मोटा होना उपपाद्य है तथा देवदत्त का रात में भोजना करना उपपादक है। अतः यह कहा जा सकता है कि अर्थापत्ति उपपादक से उपपाद्य का ज्ञान है। इस उदाहरण के अन्तर्गत हमें देवदत्त के मोटा होने की व्याख्या करनी है। इस व्याख्या के अन्तर्गत ‘देवदत्त के मोटा होने में’ हमें यह मानना पड़ेगा कि देवदत्त रात में भोजन करता है। अतः कहा जा सकता है कि— अर्थापत्ति में उपपाद्य और उपपादक दोनों अर्थों की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि जो मनुष्य (देवदत्त) दिन में उपवास रखता है और रात में भी भोजन न करे तो वह स्वस्थ नहीं रह सकता है।

ज्ञात अर्थ की व्याख्या के लिए अज्ञात अर्थ की कल्पना करना अर्थात् जिसकी सहायता के बिना उस ज्ञात अर्थ की उपपत्ति नहीं हो पाती उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक व्यक्ति का जीवन प्रमाणान्तर (ज्योतिषादि) से निश्चित है किन्तु घर में जब उसकी उपलब्धि या उपस्थिति नहीं होती है, तब उसके बाहर होने की कल्पना की जाती है। इसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। यहाँ उपपाद्य जीवन करण है और उपपादक बहिर्भाव फल है। जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उसे उपपाद्य कहते हैं जैसे— जीवन तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति हो उसे उपपादक कहते हैं जैसे— बहिर्भाव। जीवन और बहिर्भाव में प्रमाण—सिद्ध जो परस्पर विरोध है। वह अर्थापत्ति में करण होता है। किसी प्रमाण से ज्ञात हो कि देवदत्त घर में है या देवदत्त घर से बाहर है और किसी अन्य प्रमाण से यह भी ज्ञात हो कि— देवदत्त घर में नहीं है, ऐसी स्थिति में दोनों ही वाक्य परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। इस विशेष या प्रतिघात का समाधान बहिर्भाव की कल्पना से किया जाता है। अतः दो प्रामाणिक अर्थों के बीच अर्थान्तर की कल्पना द्वारा समाहित होने वाला पारस्परिक विरोध अर्थापत्ति का कारण कहलाता है। उस विरोध (प्रतिघात) के समाधान हेतु जो अर्थान्तर कल्पना होती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं।

**अर्थापत्ति को स्वीकार करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय :** मीमांसा और वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। इससे एक पृथक प्रमा की उत्पत्ति होती है। पृथक प्रमा की उत्पत्ति के कारण यह पृथक प्रमाण है। इसके प्राप्त होने वाला ज्ञान विशेष प्रमा या नया ज्ञान है। इसलिए अर्थापत्ति का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान में नहीं हो सकता। अतः यह चारों प्रमाणों से भिन्न, पाँचवाँ प्रमाण है, किन्तु सभी दार्शनिक ऐसा नहीं मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो सकता है। अतः न्याय दर्शन के अनुसार इसे स्वतंत्र एवं पृथक प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

शबर के अनुसार, अर्थापत्ति उस अर्थ की कल्पना को कहा जाता है, जिस अर्थ की कल्पना के बिना दृष्ट या श्रुत अर्थ (विषय) की उपपत्ति न होती हो। उदाहरण— यदि देवदत्त जीवित है और वह घर पर नहीं है तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह

घर से बाहर होगा। यदि इस कल्पना को अस्वीकार कर दिया जाय तो देवदत्त के जीवित होने और घर पर न रहने के तथ्यों का परस्पर सामंजस्य नहीं हो सकता। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र के व्याख्या को उसी रूप में स्वीकार किया है। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र दोनों ने अर्थापत्ति को स्वीकार किया है।

### प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति

सांख्य दर्शन में अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रमाण की है, अपितु अर्थापत्ति को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत रखते हैं। इसी तरह न्याय दर्शन भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानना अपितु नैयायिक भी अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्निहित मानते हैं। मीमांसा एवं वेदांत के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक समुदाय ने इसे स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रदान किया है।

### अर्थापत्ति और अनुमान

नैयायिकों ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है तथा इसे स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। जबकि मीमांसक आचार्य कुमारिल आदि ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं स्वीकार किया है। इसी का विश्लेषण यहाँ पर किया गया है—

**अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव :** न्याय—वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शन के आचार्यों ने अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया है किन्तु मीमांसा और वेदान्त अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। अतः नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत तर्क और मीमांसक आचार्यों द्वारा उसका निवारण अंग्राकित है—

नैयायिकों के अनुसार अनुमान में अर्थापत्ति के अन्तर्भाव की प्रक्रिया इस प्रकार हो सकती है—

- क. जीवित चैत्र घर से बाहर है।
  - ख. क्योंकि वह जीवित है और घर पर नहीं है।
  - ग. मेरी तरह।
- यहाँ—

पक्ष— चैत्र जीवित है।

साध्य — चैत्र का बहिर्भाव है।

हेतु — चैत्र का गृहाभाव है।

किन्तु कुमारिल के मतानुसार उपर्युक्त अन्तर्भाव उचित नहीं है। क्योंकि चैत्र का गृहाभाव हेतु की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसका कारण यह है कि हेतु (गृहाभाव) की विद्यमानता पक्ष (चैत्र) में सिद्ध नहीं की जा सकती। यहाँ तो केवल घर दिखायी दे रहा है चैत्र नहीं। चैत्र जीवित है घर पर नहीं है, यह बात तब तक सही नहीं मानी जा सकती, जब तक कि चैत्र को बाहर कहीं देख न लिया जाये। अतः स्पष्ट है कि — “चैत्र घर पर नहीं है”— इस बात को सिद्ध करना है, यह वस्तु पहले दृश्यमान (दिखायी दे रही है) तथा जिससे सिद्ध होना है, वह बाद में दिख रहा है, जबकि अनुमान के अन्तर्गत हेतु पहले आता है तथा साध्य बाद में आता है।

अर्थापत्ति का प्रयोग अर्थापत्ति का समाधान करके मस्तिष्क को हल्का करने के लिए किया जाता है, जबकि अनुमान में अनुपपत्ति की समस्या खड़ी ही नहीं होती।

प्रभाकर का मानना है कि अनुमान और अर्थापत्ति की प्रक्रियायें अलग-अलग हैं। पर्वत पर धूम तब तक नहीं रह सकता, जब तक वहाँ आग विद्यमान न हो। किन्तु अर्थापत्ति में यह क्रम उलट जाता है अर्थात् बहिर्भाव (चैत्र घर से बाहर है) की कल्पना तब तक नहीं की जा सकती, जब तक जीवित होने का बोध न हो जाय। इस प्रकार प्रभाकर ने भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण माना तथा अनुमान में इसके अन्तर्भाव का विरोध किया।

कुमारिल एवं प्रभाकर के तर्कों के सन्दर्भ में 'जयंत भट्ट' का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि यदि मीमांसक यह मानते हैं कि चैत्र का बहिर्भाव उसके घर पर अनुपस्थिति के बिना असम्भ है तो उनको सीधी तरह से यह भी मानना चाहिए कि यदि जीवित चैत्र घर में नहीं हो तो वह अवश्य ही बाहर कहीं होगा और ऐसा मानना तो अनुमान ही है।

**अर्थापत्ति में अनुमान का अन्तर्भाव :** नैयायिकों ने अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की है। अतः नैयायिकों की दृष्टि में— अर्थापत्ति में अनुमान के अन्तर्भाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। किन्तु 'पार्थसारथि मिश्र' एवं धर्मराजाध्वरीन्द्र जैसे कुछ दार्शनिकों ने अर्थापत्ति में अनुमान के अन्तर्भाव का प्रयास किया है। मीमांसक आचार्य पार्थसारथि मिश्र ने यह कहा कि— अनुमान का आधार व्याप्ति है और अर्थापत्ति का आधार अनुपपत्ति है। धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह विचार है कि— व्यतिरेक अनुमान का अन्तर्भाव अर्थापत्ति में हो जाता है। किन्तु नैयायिक उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अर्थापत्ति में व्यतिरेक अनुमान के अन्तर्भाव को भी स्वीकार नहीं करते।

### 4.3 अर्थापत्ति के भेद

मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति के दो भेद प्राप्त होते हैं— दृष्टार्थापत्ति एवं श्रुतार्थापत्ति। कुमारिल के अनुसार भाष्य में प्रयुक्त श्रुत और दृष्ट शब्द अर्थापत्ति के दो भेदों के वाचक हैं। किन्तु प्रभाकर का यह कथन है कि श्रुत और दृष्ट एक ही प्रमाण के दो नामान्तर हैं। अतः श्रुतार्थापत्ति एक पृथक भेद नहीं है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने श्रुतार्थापत्ति (शाब्दबोध में अनुपपत्ति) को अर्थापत्ति का एक पृथक भेद तो माना ही है। इसके साथ ही अभिधाननुपपत्ति और अभिहितानुपपत्ति के रूप में उसके दो उपभेदों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार यदि देखा जाय तो अर्थापत्ति के कुल चार भेद हुए, जिसमें ये दोनों, उपभेद भी शामिल हैं। सर्वप्रथम अर्थापत्ति के दो प्रमुख भेद — 1. दृष्ट, 2. श्रुत का वर्णन अग्रंकित/निम्नलिखित हैं—

1. **दृष्टार्थापत्ति :** यदि कोई व्यक्ति दूर से किसी चमकीली वस्तु को देखता है और उस चमकीली वस्तु वह चाँदी समझ लेता है कि किन्तु जब वह व्यक्ति उस चमकीली वस्तु के समीप पहुँचता है, तब उसे ज्ञात होता है कि यह वस्तु चाँदी नहीं है। इस प्रकार उस व्यक्ति को एक साथ दो विरोधी ज्ञान प्राप्त होते हैं— प्रथम 'यह रजत है' और द्वितीय— 'यह रजत नहीं है।' इन दोनों ज्ञान में से एक अवश्य असत्य होगा। इसमें अनुपपत्ति है। इसका समाधान तभी सम्भव है, जब यह ज्ञात हो जाय कि दूर दिखायी पड़ने वाली वस्तु रजत नहीं थी। यदि चमकीली वस्तु रजत होती तो निकट आने पर रजत ही प्रतीत होती। यहाँ पर 'इदं रजतम्' तथा 'न इदं रजतम्' दोनों तथ्य हैं किन्तु दोनों अनुपपन्न हैं। ये उपपन्न तभी हो सकती है जब प्रथम तथ्य (इदं रजतम्) को असत्य मान लिया जाय। वास्तव में यदि 'इदं रजतम्' (यह रजत है।) सत्य होता तो निकट आने पर भी वह रजत ही प्रतीत होता किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती। चूँकि अर्थापत्ति प्रमा दृष्ट विषय की व्याख्या के लिए है, अतः यहाँ दृष्टार्थापत्ति है।

2. **श्रुतार्थापत्ति** : श्रुतार्थापत्ति के अन्तर्गत सुने हुए विषय की व्याख्या के लिए उपपादक अर्थ की कल्पना की जाती है। श्रुत विषय सम्बन्धी अनुपपत्ति को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। देवदत्त जीवित है तथा वह घर पर नहीं है, तो यहाँ पर यह कल्पना की जा सकती है कि वह घर के बाहर ही कहीं होगा। इस उदाहरण से दो ज्ञान अनुपपन्न होते हैं— प्रथम देवदत्त जीवित है और द्वितीय—वह घर पर नहीं है। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ 'देवदत्त के घर से बाहर रहने की बात' स्वीकार करना होगा। उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है— यदि देवदत्त जीवित है तथा वह घर पर नहीं है, तो निश्चित ही वह घर से बाहर है। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ हमें निश्चित रूप से यह स्वीकार करना होगा कि — देवदत्त जीवित है, तो वह घर पर है या फिर बाहर है। यदि वह (देवदत्त) जीवित है और घर तथा बाहर दोनों जगहों पर नहीं है ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है।

महान वेदान्ती धर्म राजाध्वरीन्द्र ने श्रुतार्थापत्ति के दो भेद बताये हैं—

1. अभिधानानुपपत्ति।
2. अभिहितानुपपत्ति।

1. **अभिधानानुपपत्ति** : यदि कोई वक्ता 'द्वारम्' या 'द्वार को' केवल इतना ही शब्द बोलकर रूक जाता है, तो यह कथन स्पष्ट नहीं हो पाता है। इस कथन सम्बन्धी समस्या या अनुपपत्ति को दूर करने हेतु इस शब्द के आगे 'पिथेहि' पद जोड़ना पड़ेगा। तब यह कथन 'द्वारं पिथेहि' अर्थात् दरवाजा बंद कर दो— पूर्ण वाक्य होगा। जब 'द्वारम्' में 'पिथेहि' क्रिया को संयुक्त नहीं किया जायेगा, तो वाक्य अनुपपन्न होगा। अतः यहाँ पर 'पिथेहि' क्रिया का अध्याहार आवश्यक है।
2. **अभिहितानुपपत्ति** : वैदिक वाक्य— "स्वर्गकामो—ज्योतिष्टोमेन यजेत्" अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ करे। इस वाक्य के अर्थ को समझने हेतु हमें सर्वप्रथम 'अपूर्व' की जानकारी होना आवश्यक है कि 'अपूर्व' क्या है? उपर्युक्त वाक्य की मूल समस्या यह है कि— स्वर्ग प्राप्ति का कारण ज्योतिष्टोम यज्ञ को माना गया है। यज्ञ अभी तथा इसी जीवन काल में सम्पन्न हो रहा है और इस यज्ञ का फल मरने के बाद स्वर्ग में प्राप्त होगा। इस समस्या का निवारण 'अपूर्व' के अन्तर्गत समय आने पर ही फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'अपूर्व' के ज्ञान के बिना यह वाक्य (स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेनयजेत्) स्पष्ट नहीं हो सकता। अतः कहा जा सकता है कि अभिहितानुपपत्ति में अर्थ सम्बन्धी कठिनाई है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति कहता है कि— "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्" तो यहाँ पर श्रोता को 'अपूर्व' नामक एक अदृष्ट अर्थ की कल्पना करनी होगी, अन्यथा इस वैदिक वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं होगा।

शबर स्वामी ने 'दृष्ट' और 'श्रुत' नामक अर्थापत्ति के भेद को नहीं स्वीकार किया है।

आचार्य कुमारिल शबर स्वामी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'दृष्ट' और 'श्रुत' विषयक दो प्रकार की अर्थापत्ति है। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से अर्थापत्ति की व्याख्या की है।

ज्ञातव्य है कि वेदान्त और मीमांसा दर्शन अर्थापत्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। मीमांसक कहते हैं कि यह सभी प्रमाणों से भिन्न पृथक प्रमाण है। मीमांसकों के अनुसार हमारे कर्ण में अनुच्चारित शब्दों को सुनने (श्रवण करने) की क्षमता का अभाव होता है।

इसलिए श्रुतार्थापत्ति प्रत्यक्ष से भिन्न है। अर्थापत्ति के अन्तर्गत लिंग का निर्धारण नहीं हो सकता, इसलिए यह अनुमान से भिन्न है। उच्चरित होने वाले वाक्यों और अनुच्चरित होने वाले वाक्यों में समानता नहीं पायी जाती है, अतः यह उपमान भी नहीं है। यह शब्द प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि शब्द प्रमाण में पूर्ण वक्य का प्रयोग होता है। अर्थापत्ति के अन्तर्गत वाक्य के कुछ अंश श्रुत होते हैं तथा कुछ अंश कल्पित या काल्पनिक होते हैं। अतः इसे शब्द प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता है। इसलिए मीमांसकों एवं वेदांतियों ने अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण माना है।

#### 4.4 अर्थापत्ति की उपादेयता

मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों के अनुसार अर्थापत्ति के द्वारा हमें ऐसे तथ्यात्मक ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो किन्तु अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति का उपयोग वेद विहित मंत्र की व्याख्या करने में करते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दों एवं उसके अर्थ को समझने के लिए भी अर्थापत्ति का प्रयोग करते हैं, जिनका उच्चारण नहीं किया जा सकता है। मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति के आधार पर ही आत्मा की अमरता में विश्वास करते हैं। इसी प्रकार अद्वैत वेदांतियों का माया-सिद्धांत भी बहुत कुछ अर्थापत्ति पर ही आधारित है।

नैयायिकों ने उपर्युक्त विचार का विरोध किया है। नैयायिकों ने मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों के अर्थापत्ति और उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए कहा है कि— यह उपयोगिता तो अनुमान द्वारा ही सम्पन्ना हो जाती है। अतः अर्थापत्ति का पृथक अस्तित्व मानना उचित नहीं है। नैयायिकों की दृष्टि से जब अनुमान के अन्तर्गत 'केवल व्यतिरेक अनुमान' नामक भेद को स्वीकार करके प्रमाण को सिद्ध किया जा सकता है, तो इसके लिए अलग प्रमाण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

उपर्युक्त आलोचना के उत्तरार्थ मीमांसकों, आचार्यों ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

1. अनुमान के अन्तर्गत एक ज्ञात वस्तु के सहारे किसी अन्य अज्ञात वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जबकि अर्थापत्ति के अन्तर्गत तथ्य (गृहाभाव) तो एक ही रहता है। पहले तथ्य अनुपपन्न रहता है और बाद में कल्पना द्वारा उत्पन्न होता है। इसीलिए मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण के रूप में उपयोगी मानते हैं।
2. मीमांसक आचार्यों का मानना है कि— हम अपने पूर्व अनुभव के साथ किसी तथ्य का विरोध दृश्यमान या श्रव्यमान (सुनाई देना) होने पर उसके समाधान हेतु अर्थापत्ति का सहारा लेते हैं, जबकि अनुमान के 'हेतु' के तहत पूर्व अनुभव के साथ पूर्णतः सामंजस्य की स्थिति में हम उसके सहारे किसी अज्ञात वस्तु का अनुमान करते हैं। अतः मीमांसक आचार्यों की दृष्टि में अर्थापत्ति पृथक प्रमाण के रूप में उपयोगी है।
3. मीमांसक आचार्यों का मानना है कि — अर्थापत्ति का मुख्य आधार अनुपपन्नता है, जबकि अनुमान प्रक्रिया अनुपपन्नता पर आधारित नहीं है। इसलिए भी मीमांसक आचार्य अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उपयोगी मानते हैं

## 4.5 अनुपलब्धि प्रमाण का अर्थ एवं स्वरूप

अनुपलब्धि का शाब्दिक अर्थ है— जो उपलब्ध न हो अर्थात् जिसकी उपलब्धि (ज्ञान) का अभाव हो उसे ही अनुपलब्धि कहते हैं। प्रमाण के रूप में— अनुपलब्धि का प्रमुख कार्य अभाव को ग्रहण करना है। प्रमुख मीमांसक आचार्य 'पार्थसारथी मिश्र' ने 'शास्त्रदीपिका' में उल्लिखित किया है कि— "भट्टमीमांसा" में सर्वप्रथम अनुपलब्धि नामक स्वतंत्र प्रमाण को स्वीकार किया गया जिससे अनुपलब्धि प्रमाण का ज्ञान होता है। कालान्तर में अद्वैत वेदान्त में भी इसे स्वतंत्र प्रमाण माना गया। ज्ञातव्य है कि — मीमांसा और अद्वैत वेदान्त में अनुपलब्धि के अतिरिक्त— प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति को भी ज्ञान का स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया गया है।

भाट्ट मीमांसकों और अद्वैत वेदांतियों का यह कथन है कि किसी स्थान विशेष पर कोई वस्तु विद्यमान न हो तो उस स्थान पर उस वस्तु का अभाव माना जायेगा और उस अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि नामक एक पृथक प्रमाण से होगा। जैसे— किसी स्थान पर घट नहीं है तो इस घटाभाव का ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। अतः अनुपलब्धि एक स्वतन्त्र प्रमाण है। इसके स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है— यदि किसी घट को मैंने देखा है, परन्तु इसी स्थान पर उपलब्धि के सभी साधनों के होते हुए भी इस समय घट नहीं दिखायी देता है, अर्थात् घट की उपलब्धि यथ समय, यथा स्थान पर नहीं होती है, तो हमें अन्ततः यह स्वीकार करना होगा कि इस स्थान पर घटाभाव है और इसका ज्ञान हमें अनुपलब्धि से हो रहा है।

नैयायिक और मीमांसक दोनों ने अभाव को 'पदार्थ' तो माना है किन्तु अनुपलब्धि को प्रमाण रूप में केवल मीमांसक ही मानते हैं अर्थात् मीमांसकों के अनुसार— 'अभाव' पदार्थ और प्रमाण दोनों हैं। आचार्य कुमारिल ने 'श्लोकवार्तिक' में कहा है कि—

**“प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न ज्ञायते।  
वस्तुसत्ताबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता।।”**

अर्थात् अभाव के सन्दर्भ में अन्य पाँच प्रमाण चरितार्थ नहीं हो सकते। अतः उसके ज्ञान के लिए अनुपलब्धि को प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार ज्ञान रूपी कारण से उत्पन्न न होने वाले अभावानुभव के असाधारण कारण को अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। अनुमान आदि से जन्य अतीन्द्रिय अभाव (यथा— अहं पुण्याभाववान् सुखाभावत्वात् : जो इस व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है कि 'यत्र—यत्र सुखाभावः तत्र—तत्र पुण्याभावः) में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में— "ज्ञानकरणाजन्यत्व" इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अनुमान व्याप्ति ज्ञान जन्य होता है, जबकि अनुपलब्धि में ऐसा नहीं होता।

धर्मराजाध्वरीन्द्र का यह कथन है कि ईश्वर, काल, अदृष्ट आदि की कारणता तो सभी कार्यों के साथ रहती है। अतः उनका परिहार करने के लिए 'अनुपलब्धि' के लक्षण में 'असाधारण' शब्द का समावेश किया गया है। इसी 'अभाव' की 'स्मृति' में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु 'अनुभव' शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्म एवं अधर्म जैसी वस्तुओं में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है। अतः उनकी अनुपलब्धि योग्य अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती। प्रत्यक्ष योग्य वस्तु के ही अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, न कि प्रत्यक्ष अयोग्य वस्तु के अभाव का भी ज्ञान। ज्ञान के कारणों के होते हुए भी ज्ञान योग पदार्थ का ज्ञान न होना उस पदार्थ के अभाव के ज्ञान का कारण होता है। अत्यंत दूर स्थित पदार्थ का भी ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसका अभाव नहीं माना जा



सकता क्योंकि वह ज्ञान के योग्य ही नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि ज्ञान योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि ही उस पदार्थ के अभाव को सिद्ध कर सकती है न कि ज्ञान के अयोग्य पदार्थ की अनुपलब्धि।

कुमारिल भट्ट का यह विचार है कि प्रमाण और ज्ञेय वस्तु के स्वभाव में समानता होनी चाहिए। भावात्मक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि भावनात्मक प्रमाणों से और अभावात्मक पदार्थों का ज्ञान अभावात्मक प्रमाण के द्वारा होता है। कुमारिल के अनुसार वस्तुयें सद-असद रूप से दो प्रकार की होती हैं। जयंत भट्ट ने कुमारिल के मत का खंडन किया है।

भारतीय दर्शन में अभाव के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है। भट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों के अनुसार अभाव एक पदार्थ है और उसका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है। प्रभाकर मीमांसक और सांख्य की दृष्टि से सत्ता (भाव) और असत्ता (अभाव) ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं। अभाव कोई पदार्थ नहीं है लेकिन उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है। नैयायिक अभाव को एक पदार्थ मानते हैं और नैयायिकों का मानना है कि अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। वैशेषिक भी अभाव को एक पदार्थ मानते हैं, किन्तु अभाव का ज्ञान अनुमान से होता है। यहाँ पर वैशेषिक, नैयायिकों से भिन्न मत रखते हैं। बौद्ध दार्शनिकों का मानना है कि अभाव कल्पना मात्र है तथा अभाव का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है। यहाँ बौद्धों का मत वैशेषिक दार्शनिकों से साम्य रखता है।

**अनुपलब्धि का प्रमाणत्व एवं विश्लेषण :** नैयायिक अनुपलब्धि का प्रमाणत्व स्वीकार नहीं करते हैं तथा अनुपलब्धि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में करते हैं। नैयायिकों का कथन है कि— 'यदि यह घड़ा होता तो भूतल के समान वह दिखायी देता।' इस तर्क द्वारा सहकारी अनुपलब्धि से युक्त प्रत्यक्ष से भूतल में घटाभाव का ज्ञान होता है। अतः पृथक अनुपलब्धि प्रमाण भी आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर यह संशय उत्पन्न होता है कि नियमतः इन्द्रियाँ अपने से सम्बद्ध विषय को ही ग्रहण करती हैं। जैसे— त्वक् इन्द्रिय-संयोग-सम्बन्ध से अपने सम्बद्ध विषय (द्रव्य) को ग्रहण करती है। इसी तरह घ्राण समवाय सम्बन्ध से स्वयं से सम्बद्ध गंध का ग्रहण करती है। यहाँ पर चक्षु के साथ अभाव का कोई संशय नहीं है। अतः चक्षु से अभाव का ग्रहण नहीं होता है। सम्बन्ध दो ही होते हैं — संयोग और समवाय। संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच होता है जबकि अभाव द्रव्य नहीं है। समवाय सम्बन्ध भी दो अयुत्सिद्ध पदार्थों के मध्य होता है, जबकि चक्षु और अभाव का एक दूसरे की अनुपस्थिति में भी विद्यमान रहते हैं।

नैयायिकों ने उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए 'विशेषण-विशेष्य भाव' सम्बन्ध के आधार पर अभाव को प्रत्यक्षगम्य माना। जैसे— 'भूतल घटाभाव से विशिष्ट है' (भूतलं घटाभाववत्) इस कथन में घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है तथा घटाभाव भूतल से विशिष्ट है (भूतले घटाभावः)। इस कथन में भूतल विशेषण तथा घटाभाव विशेष्य है। अतः नैयायिकों के अनुसार चक्षु का सम्बन्ध घटाभाव के साथ भूतल के माध्यम से मानने में कोई समस्या नहीं है। अतः इन्द्रियों द्वारा अभाव का ग्रहण किया जा सकता है।

नैयायिकों के 'विशेषण-विशेष्य भाव' पर वैदांतियों ने आपत्ति प्रकट की है। सम्बन्ध वह कहलाता है, जो दो व्यक्तियों पर निर्भर (आश्रित) हो, आश्रयभूत दोनों व्यक्तियों से भिन्न हो और स्वयं एक हो। ये तीनों बातें— 'विशेषण-विशेष्यभाव' में नहीं दृष्टिगत होती हैं। विशेषण केवल विशेषण में पायी जाती हैं और विशेष्य केवल विशेष्य में। अतः

विशेषण-विशेष्यभाव उभयाश्रित नहीं है। विशेषण विशेषण से तथा विशेष्य विशेष्य से पृथक नहीं है। विशेषणविशेष्य रूप सम्बन्ध दोनों से भिन्न एक व्यक्ति रूप भी नहीं है। अतः यह सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि— विशेषण विशेष्यभाव, विशेषण-विशेष्य स्वरूप से भिन्न नहीं है, उभयाश्रित नहीं है तथा एक व्यक्ति रूप भी नहीं है। अतः विचार करने पर तो — विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध नहीं है। किन्तु नैयायिकों ने इसे सम्बन्ध का साधर्म्य माना है, जिसे 'उभयनिरूपणीयत्व' (दोनों से बाधित होना) कहते हैं। जिस प्रकार भेरी और दण्ड का संयोग सम्बन्ध भेरी और दण्ड के बिना नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार विशेषणविशेष्यभाव भी दोनों के बिना नहीं जाना जा सकता। अतः इन्हें युगल रूप में ही जाना जा सकता है। इसीलिए इसे 'उपचारवश' सम्बन्ध कहते हैं।

नैयायिकों के अनुसार नियमतः इन्द्रियाँ स्वसम्बद्ध विषयों को ही ग्रहण करती हैं किन्तु यह नियम केवल भाव पदार्थों के लिए है। अभाव का ग्रहण उसके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध हुए बिना विशेषण विशेष्यभाव से हो जाता है।

बौद्धों के अनुसार— विशेषण-विशेष्य भाव को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि बौद्धों की दृष्टि में यह काल्पनिक है। जयंत भट्ट ने बौद्धों द्वारा— 'विशेषण-विशेष्य-भाव' को काल्पनिक मानने का खंडन किया है। जयंत भट्ट का मानना है कि अभाव की वस्तु सत्ता है और 'विशेषण-विशेष्य भाव' द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मीमांसक और अद्वैत वेदांतियों द्वारा मान्यता प्राप्त है।

#### 4.6 अनुपलब्धि प्रमाण की उपादेयता

न्याय एवं वैशेषिक आदि ने अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण नहीं स्वीकार किया है, किन्तु न्यायशास्त्र में अभाव का व्यापक विश्लेषण किया गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रमाण रूप में अनुपलब्धि को न स्वीकारने के बावजूद अभाव के महत्त्व को माना गया है। दार्शनिकों का मानना है कि यदि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो भाव के साथ अभाव की समस्या सदैव बनी रहती है। वास्तव में यदि अभाव की सत्ता न होती तो लोगों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ इतना अवश्य है कि इसके ज्ञान को लेकर भारतीय आचार्यों में मतभेद है। भाट्ट मीमांसकें और वेदांतियों ने अभाव के ज्ञान के लिए ही अनुपलब्धि को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिपादित किया। किन्तु लोक व्यवहार में नैयायिकों का मत अधिक प्रसिद्ध है। क्योंकि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और शब्द से भी अभाव का ज्ञान हो सकता, जबकि अधिकांशतः अभाव के ज्ञान हेतु प्रत्यक्ष का सहारा लिया जाता है।

नैयायिकों की दृष्टि में 'विशेषण-विशेष्य-भाव' को एक सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिससे कि अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव किया जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि अनुपलब्धि के प्रमाणत्व को लेकर विवाद होने के बावजूद, 'अभाव' को लेकर भारतीय दर्शन में जो विश्लेषण तथा खण्डन-मण्डन प्रस्तुत किया गया वह इसकी उपादेयता को सिद्ध करता है। अतः प्रमाणित होता है कि भारतीय दर्शन में अनुपलब्धि प्रमाण महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

---

## 4.7 सारांश

---

अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भारतीय दर्शन में वेदमूलक दर्शनों में मीमांसा और वेदान्त में स्वीकार्य है। हमारे जीवन में बहुत सारे ऐसी घटनाएँ या विचार की वस्तुएँ आती हैं, जिनका हमें केन्द्रीय प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी उनका अस्तित्व होता है। यदि उनके अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया जाय, तो जीवजगत की बहुत सारी व्याख्याएँ नहीं हो पायेंगी। अर्थापत्ति जहां दृष्टकार्य या घटनाओं को देखकर उसके पीछे की अदृष्ट (बिना देखी हुई) कारण का बौद्धिक निर्धारण है, वही अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा हम किसी भी वस्तु या घटना के किसी देश और काल में अनुपस्थिति को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार से अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करता है। इन प्रमाणों के ही आधार पर हम आत्मा, ईश्वर या दैवीय सत्ताओं के 0पर विश्वास कर पाते हैं। ये प्रमाण हमारे जीवन में आस्तीकता का प्रवेश कराते हैं।

---

## 4.8 पारिभाषिक शब्दावली

---

---

### 4.9 सहायक उपयोगी पाठ्यपुस्तकें

---

1. चक्रधर विजलवान, न्यायदर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखन0, 1999
2. हीरालाल आर शिवहरे, पदार्थ विज्ञान, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
3. डी.एम. दत्ता, 'सिक्स वे ऑफ नोईंग'

---

### 4.10 बोध प्रश्न

---

1. अर्थापत्ति की परिभाषा दीजिए तथा स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. अर्थापत्ति को स्वीकारने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय की दृष्टि में अर्थापत्ति का विवेचन कीजिए।
3. अर्थापत्ति के कितने प्रकार हैं? अर्थापत्ति के प्रकार को व्याख्यायिक कीजिए।
4. अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? विश्लेषण कीजिए।
5. अनुपलब्धि प्रमाण की परिभाषा दीजिए तथा इसके स्वरूप का वर्णन कीजिए।
6. अनुपलब्धि के स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार्यता का विवेचन कीजिए।



**ignou**  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY